उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत
उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किए बिना विश्राम मत लो।

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—५ जून—१९८६ अंक—६

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप विखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल 'विवेक शिखा'॥

संपादक
डॉ० केदारनाथ लाभ

सहायक संपादक
शिशिर कुमार मल्लिक
श्याम किशोर

संपादकीय कार्यालय।
रामकृष्ण निलयम्
जयप्रकाश नगर,
छपरा—८४१३०१
(बिहार)

सहयोग राशि

आजीवन सदस्य	२५० रु०
षड् वार्षिक	१०० रु०
त्रैवार्षिक	५५ रु०
वार्षिक	२० रु०
एक प्रति	२ रु० ५० पैसे

रचनाएँ एवं सहयोग - राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें।

श्रीरामकृष्ण ने कहा है

(१)

जाने-अनजाने, किसी भी रीति से क्यों न हो, अगर कोई अमृतकुण्ड में एक बार गिर पड़े तो अमर हो जाता है। इसी प्रकार कोई जानकर, अनजान में या और किसी भी तरह भगवान् का नाम क्यों न ले, वह अन्त में अमरत्व प्राप्त करता है।

(२)

अवश्य ही भगवान् के नाम की बड़ी महिमा है, पर अनुराग के बिना क्या होगा? भगवान् के लिए प्राण व्याकुल होने चाहिए। अगर मैं मुँह से तो नाम लेता रहूँ पर मन को कामिनी-कांचन में ही लिप्त रखूँ, तो उससे क्या लाभ होगा! अगर बिच्छू ने काटा हो तो सिर्फ मन्त्र पढ़ने से जहर नहीं उतरता, कण्डा जलाकर उसका धुआँ भी देना पड़ता है।

(३)

अगर कच्ची मिट्टी की हांड़ी फूट जाय तो कुम्हार उस मिट्टी से फिर नयी हांड़ी बना सकता है, किन्तु पकी हुई हांड़ी के फूट जाने पर ऐसा नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार, अज्ञान-अवस्था में मृत्यु होने से मनुष्य को जन्म लेना पड़ता है, किन्तु ज्ञानाग्नि में अच्छी तरह पक जाने के बाद यदि मृत्यु हो तो उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

(४)

साँप के दाँतों में विष है, लेकिन जब वह स्वयं खाता है तो उस पर विष का असर नहीं होता; किन्तु जब वह दूसरे को काट खाता है तो उस व्यक्ति पर विष चढ़ जाता है। इसी प्रकार, भगवान् में माया है तो अवश्य, पर वह उन्हें मुग्ध नहीं कर सकती, किन्तु सारे संसार को मुग्ध कर लेती है।

(५)

पारे के सरोवर में यदि एक सीसे का टुकड़ा छोड़ दिया जाय तो वह भी पारा बन जाता है। उसी प्रकार, ब्रह्म सागर में मग्न होकर जीव अपने सीमित अस्तित्व को खोकर ब्रह्मरूप हो जाता है।

गुणगान प्रभु का कीजिए

—श्री द्वारका प्रसाद शर्मा
वृन्दावन ।

(१)

भज मन रामकृष्ण शुभ नाम ।
जिनके नाम-स्मरण मात्र से नशैं क्रोध औ काम ॥१॥

रुचि जागे प्रभु-पाद-पद्म में सेवन हितु अविराम ।
चरण-कमल-सेवन से उपजे श्रद्धा शुद्ध ललाम ॥२॥

श्रद्धा से होवे तन्मयता प्रभु-दर्शन परिणाम ।
प्रभु-दर्शन से नित्य-निरन्तर मिले परम विश्राम ॥३॥
भज मन रामकृष्ण शुभ नाम ।

(२)

भज मन रामकृष्ण दिन-रात ।
त्याग सकल दूषित विचार औ विषय-भोग की बात ॥१॥

नहीं स्वार्थ से परे जगत में सखा बन्धु पितु मात ।
काट मोह ममता का बन्धन सन्त-वचन सुन तात ॥२॥

दास-भाव से सेवन कर तू निज गुरु-पद-जलजात ।
होवे तव हित इष्ट भजन से पुलकित इन्द्रिय गात ॥३॥
भज मन रामकृष्ण दिन रात ।

गीता में अज्ञान एवम् ज्ञान का विवेचन

श्रीमत् स्वामी वेदान्तानन्द
रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना

श्रीमद्भगवद्गीता में अज्ञान एवं ज्ञान इन दो शब्दों का बहुल प्रयोग देखा जाता है। ये दोनों शब्द किस श्लोक में किस अर्थ में व्यवहृत हुए हैं इनका धारवाहिक रूप से विवेचन कर, अज्ञान किसे कहते हैं या ज्ञान का ही क्या स्वरूप है—इसे हमलोग समझने की चेष्टा करेंगे।

गीता के तृतीय अध्याय के तृतीय श्लोक में श्रीकृष्ण ने ज्ञानयोग और कर्मयोग इन दो प्रकार के साधन-पर्वों की बात कही है। संसार में साधारणत: दो श्रेणी के लोग देखने को मिलते हैं। कुछ मनुष्य स्वभावत: अन्तर्मुखी और विचारप्रवण होते हैं। वे जन्म-मरण के रहस्य को समझने तथा अपने यथार्थ स्वरूप को जानने के आग्रही होते हैं। ऐसे व्यक्तियों के लिए ज्ञानयोग के अवलम्बन के द्वारा ब्रह्मनिष्ठ रहने की साधना ग्रहणीय है। किन्तु संसार के अधिकांश मनुष्य वहिर्मुखी होते हैं। सर्वदा कार्यों में व्यस्त रहना उनलोगों की स्वाभाविक प्रवणता होती है। ऐसे लोगों के लिए कर्मफलों का ईश्वर में समर्पण कर निष्काम कर्मानुष्ठानरूपी कर्मयोग की साधना अवलम्बन करने के योग्य है।

गीता के तृतीय अध्याय के २३ वें श्लोक में 'अज्ञ' शब्द का प्रयोग पाया पाता है। इस श्लोक में कहा गया है कि आत्मा के स्वरूप का विचार करने में जो लोग असमर्थ हैं, जिन आज्ञानी लोगों की कर्मानुष्ठान के प्रति स्वाभाविक आसक्ति है, उन लोगों को 'आत्मा अकर्त्ता है' इस प्रकार का उपदेश नहीं देना चाहिए, क्योंकि ईश्वरार्थ कर्मानुष्ठान के द्वारा चित्त शुद्ध नहीं होने पर, अशुद्ध चित्त में आत्मज्ञान का उद्भव नहीं हो पाता। अतएव, ज्ञानी व्यक्ति सारे कर्म निष्ठा के साथ सम्पादन कर अज्ञानी व्यक्तियों को कर्म के प्रति आकृष्ट करेंगे।

तृतीय अध्याय के ३२ वें श्लोक के 'सर्वज्ञान विमूढान्' इस पद के 'सर्वज्ञान' से भगवान श्रीकृष्ण द्वारा कथित निष्काम कर्मानुष्ठान विषयक सिद्धान्त एवं आत्मा के यथार्थ स्वरूप विषयक उपदेश—इन दो प्रकारों के ज्ञान की बात समझनी होगी। इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि जो विवेकहीन व्यक्ति फलाकांक्षा त्याग पूर्वक प्रीति सम्पादन के उद्देश्य से कर्मानुष्ठान विषयक अनुशासन के प्रति अवज्ञा का प्रदर्शन करते हैं एवं निष्काम कर्म नहीं करते हैं; इसी प्रकार आत्मा के स्वरूप की अवगति के फलस्वरूप जो लोग कर्मत्याग में असमर्थ हैं, उनका जीवन धारण करना व्यर्थ ही है।

३/३३ वें श्लोक के 'ज्ञानवान्' शब्द का अर्थ कर्म के दोष या गुण के सम्बन्ध में ज्ञानसम्पन्न है। यह ज्ञान शास्त्र, दूसरों के उपदेश अथवा अपनी अभिज्ञता से उपलब्ध होता है। इस श्लोक का कथन है कि किसी भी कार्य के दोष के विषय में ज्ञानवान व्यक्ति भी अतीत में किये गये कर्म या चिन्तन से उत्पन्न संस्कार के वशीभूत होकर कार्य करते हैं। सभी प्राणी संस्कार के अधीन चालित होते हैं। 'इन्द्रिय संयम करूँगा' सोचने से ही यह संयम नहीं किया जाता।

तृतीय अध्याय के ३९ और ४०वें श्लोक में व्यवहृत ज्ञान शब्द से दोष और गुण विषयक ज्ञान जाना जाता है। इसी प्रकार, ज्ञानवान् शब्द 'साधारण रूप से ज्ञान सम्पन्न' इस अर्थ में व्यवहृत हुआ है। काम प्रवृत्ति या इच्छा ज्ञानी के निकट चिरन्तन शत्रु के रूप में प्रकाशित होती है। क्योंकि, ज्ञानी व्यक्ति कर्मोपभोग का दोष भोग के समय अनुभव करते हैं। दूसरी ओर विवेकहीन व्यक्ति

भोग के समय सुख का अनुभव करते हैं। इन्द्रिय समूह, मन और बुद्धि काम के आश्रय स्थल है। इन सब के आश्रय में रहकर काम मनुष्य को मोहित करता है।

३/४१ वें श्लोक में काम या इच्छा को 'ज्ञान विज्ञान नाशनम्' कहा गया है। प्रबल भोगेच्छा मनुष्य के शास्त्र एवं गुरु द्वारा दिये गये उपदेश से उत्पन्न ज्ञान एवं स्वयं के अनुभव को अभिभूत कर प्रकाशित होती है। अतएव, प्रथम कर्तव्य होता है, इन्द्रिय, मन और बुद्धि को संयत-कर काम को आश्रयच्युत करना।

गीता का चतुर्थ अध्याय ज्ञानयोग के नाम से अभिहित है। इस अध्याय के अधिकांश श्लोकों में आत्मज्ञान के साधन और उसके फल का कथन हुआ है। इस अध्याय के १९ वें श्लोक का तात्पर्य यह है:—जिस व्यक्ति के मन से कामना चली गयी है, 'इस कर्म से यह फल प्राप्त होगा' इस प्रकार का संकल्पकर जो किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होते, निष्काम कर्मानुष्ठान के द्वारा उनका चित्त शुद्ध होता है और वे स्वयं को फिर किसी कर्म का कर्त्ता नहीं मानते। इस ज्ञानोत्पत्ति के फलस्वरूप वे देह और इन्द्रिय समूहों द्वारा जो कर्म करते हैं वे कर्म पाप-पुण्य की उत्पत्ति का कारण नहीं बनते। इस प्रकार के व्यक्ति यथार्थ पण्डित होते हैं। वे केवल शास्त्र का अर्थ जानते हैं, सो नहीं; बल्कि शास्त्र का ज्ञान उनके जीवन में अभिव्यक्त होता है।

इसी अध्याय के २३ वें श्लोक में कहा गया है कि विषयों की आसक्ति से रहित एवम् सारे कार्यों में आकर्षण और विद्वेष से शून्य व्यक्ति ईश्वर की प्रीति के लिए जो कार्य करते हैं वे कार्य उनके सुख या दुःख की उत्पत्ति का कारण नहीं होते उनका चित्त हर समय ज्ञान में अवस्थित रहकर "आत्मकर्म करते हैं एवम् कर्म का फलभोग करते हैं।"—इस प्रकार की मिथ्या धारणा के मिट जाने के कारण देह और इन्द्रियादि द्वारा किये गये कर्मों का फल उन्हें स्पर्श नहीं कर पाता।

४/३३ वें श्लोक में द्रव्ययज्ञ से ज्ञानयज्ञ को उत्कृष्ट कहा गया है। विविध द्रव्यों द्वारा किसी भी देवता का अनुग्रह प्राप्त करने के उद्देश्य से अनुष्ठित यज्ञ फल से इस जीवन में सुख एवं मरने के बाद स्वर्ग की प्राप्ति होती है। किन्तु यह सुख-भोग चिर स्थायी नहीं होता। किन्तु आत्म-ज्ञान की प्राप्ति होने से उनका पुनः क्षय या विनाश नहीं होता। आत्मा के स्वरूप का यथार्थ अनुभव कर पाने पर मनुष्य परमानन्द का अधिकारी होता है।

४/३४ वें श्लोक में कहा गया है कि आत्मज्ञान गुरु के उपदेश से प्राप्त करना होगा। गुरु के केवल शास्त्र-ज्ञाता होने से काम नहीं चलेगा। जिस व्यक्ति को आत्म-स्वरूप का यथार्थ अनुभव हुआ है, केवल उसी के उपदेश के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है। प्रणाम, प्रश्न एवं सेवा—ज्ञान-प्राप्ति के यही तीन साधन हैं। जो ज्ञान प्राप्त करने के आग्रही हैं उन्हें नम्र और विनयी होना होगा। ज्ञानी गुरु उद्धत व्यक्ति को उपदेश नहीं देते। शिष्य के हृदय में जिज्ञासा की प्रबल प्रवृत्ति होनी चाहिए। उन्हें पूरे मन से गुरु के उपदेश का सुनना एवं उसपर विचार करना चाहिए। और, शिष्य को सेवा परायण भी होना होगा।

४/३६ वें श्लोक में आत्मज्ञान की नाव से तुलना की गयी है। नदी या समुद्र को पार करने के लिए जिस प्रकार सुदृढ़ नौका की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार जीवन में किये गये समस्त पाप कर्मों के फल-भोग से त्राण पाने के लिए अपने स्वरूप की अनुभूति को प्राप्त करना आवश्यक है। अत्यन्त पापी व्यक्ति भी यदि यह अनुभव कर सके कि आत्मा नित्य शुद्ध एवं निष्क्रिय है, तो वह अपने सारे अपकर्मों के फल-भोग से निस्तार पाता है।

४/३७ वे श्लोक में आत्मज्ञान की तुलना आग से की गयी है। प्रज्वलित अग्नि जिस प्रकार काष्ठ-स्तूप को भस्मीभूत कर देता है, उसी प्रकार आत्मज्ञान प्राप्त करने के फलस्वरूप सारे कर्मों के फल नष्ट हो जाते हैं।

४/३८ वें श्लोक में कहा गया है कि सभी प्रकार की साधनाओं में ज्ञानयोग सब की अपेक्षा अधिक पवित्रता प्रदान करने वाला है। लेकिन, इसके लिए विशेष प्रस्तुति

की प्रयोजनीयता है। दीर्घकाल तक निष्काम कर्मानुष्ठान के द्वारा चित्त शुद्ध होने पर उस शुद्ध चित्त से आत्मा के यथार्थ स्वरूप का अनुभव होता है। इसी कारण से सभी ज्ञानयोग का अवलम्बन नहीं करते।

४/३९ वें श्लोक में आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए साधक की योग्यता निर्धारित की गयी है। साधक को गुरु के उपदेश के प्रति दृढ़ विश्वास सम्पन्न होना होगा। वे आत्मा के स्वरूप के विचार के अतिरिक्त मन में किसी अन्य चिन्तन को स्थान नहीं देंगे। वे जितेन्द्रिय होंगे—उनका कोई इन्द्रिय या मन विषय के प्रति आकृष्ट नहीं होगा। इस प्रकार की योग्यता से सम्पन्न साधक थोड़े समय में ही आत्मज्ञान की प्राप्ति कर परम शान्ति को प्राप्त करते हैं। उनके अब तक के दुःख की शीघ्र निवृत्ति हो जाती है।

ब्रह्मानुभव की द्विविध साधना के विषय में कर्मयोग में निष्ठा एवं आत्मज्ञान में निष्ठा के सम्बन्ध में द्वितीय एवं तृतीय अध्याय में कहा गया है। चतुर्थ अध्याय के ४१ और ४२ वें श्लोक में उक्त दोनों निष्ठाओं की अन्तिम बात बतायी गयी है। ईश्वर की आराधना के रूप में कर्मों का अनुष्ठान एवं कर्मों के फल को ईश्वर में समर्पण करने में जो अभ्यस्त हो गये हैं, आत्मज्ञान की उत्पत्ति के फलस्वरूप जिनकी "आत्मा कोई कर्म नहीं करती" यह धारणा दृढ़ हो गयी है, अपने को शरीर मानने का भ्रम जिन्हें नहीं होता, जो प्रमाद ग्रस्त नहीं होते, वे शरीर के स्वाभाविक आहार निद्रा आदि के द्वारा अथवा दूसरों के कल्याण के लिए किये गये कर्मों के द्वारा बद्ध नहीं होते, अर्थात् सुख-दुःख का भोग नहीं करते।

अर्जुन कर्मत्याग के अधिकारी नहीं हैं। इसी से श्री भगवान उन्हें कर्मयोग का उपदेश देते हैं।

४/४२वें श्लोक में वे कहते हैं,—हे अर्जुन, चूँकि युद्ध करना तुम्हारा कर्तव्य है यह तुम समझते हो फिर भी देह के नाश के साथ आत्मा का नाश होता है कि नहीं, इस विषय में तुम्हारा जो सन्देह है, आत्मस्वरूप के विचार के द्वारा उसे मिटा दो एवं फलकामना के त्यागपूर्वक युद्ध के लिए प्रस्तुत होओ।

पाँचवे अध्याय के १५ वें श्लोक में कहा गया है कि अज्ञान के द्वारा ज्ञान आवृत है। यहाँ अज्ञान कहने का तात्पर्य है कि भ्रमवश सर्वदा परिवर्तनशील और वैचित्र्यपूर्ण जगत को सर्वदा एकरूप और सत्य समझना ही अज्ञान है, भ्रम है। और ज्ञान कहने का तात्पर्य है परमेश्वर सर्वदा सर्वत्र समभाव से विराजमान हैं—इस प्रकार का बोध होना। इस श्लोक का तात्पर्य इस प्रकार है – ईश्वर सर्वदा परिपूर्ण हैं। उन्हें किसी प्रकार के प्रयोजन या अभाव का बोध नहीं होता। वे किसी व्यक्ति के द्वारा किये गये सत कर्म अथवा पाप कर्म का फल ग्रहण नहीं करते। अज्ञानवश मनुष्य अपने को नाना प्रकार के कर्मों का कर्त्ता एवं उन सारे कर्मों के परिणाम से उत्पन्न फल का भोक्ता समझ कर सुख अथवा दुःख का भोग करता है। वह यह भी मानता है कि ईश्वर ही उसके द्वारा सत् और असत् कर्म कराते हैं।

५/१६ वें श्लोक में कहा गया है कि जिन ज्ञानियों ने ईश्वर के स्वरूप की उपलब्धि की है वे मोहाभिभूत नहीं होते। ज्ञान के द्वारा जिन लोगों का भेद-ज्ञान-उत्पादक अज्ञान नष्ट हो गया है उनलोगों का वही ज्ञान अज्ञान को दूरकर आत्मा एवं ईश्वर के प्रकृत स्वरूप को प्रकाशित करता है। जैसे सूर्य के उदय होने के साथ-साथ अन्धकार के मिट जाने से संसार की समस्त वस्तुएँ प्रकाशित हो जाती हैं। वस्तुओं को प्रकाशित करने के लिए सूर्य अलग से चेष्टा नहीं करता

५/१७ वें श्लोक में कहा गया है कि आत्मा के स्वरूप का ज्ञान होने के कारण जिनलोगों की हर प्रकार की मानसिक मलिनता नष्ट हो गयी है, जो लोग स्वयं को अहंकार से भिन्न आत्मा मानते हैं, उन लोगों को फिर जन्म-ग्रहण नहीं करना पड़ता; इस जीवन में ही वे लोग ईश्वर के साथ नित्ययुक्त होकर रहते हैं। उन लोगों का मन और बुद्धि सर्वदा ईश्वर के चिन्तन में लिप्त रहती है, वे लोग ईश्वर को छोड़कर और कुछ नहीं

जानते। एकमात्र ईश्वर का आश्रय लेकर काल-यापन करते हैं।

५/२९ वें श्लोक में 'ज्ञात्वा' अर्थात् 'जानने पर' इस असमापिका क्रियापद का व्यवहार किया गया है। केवल इन्द्रिय संयम के द्वारा मुक्ति प्राप्ति नहीं होती। 'मैं कर्त्ता नहीं हूँ, ईश्वर ही सभी कर्मों के कर्त्ता हैं।'—इस ज्ञान के फलस्वरूप चिर शान्ति की प्राप्ति होती है। यह ज्ञान-त्याग लाभ होने पर ईश्वर दूर हैं—ऐसा नहीं लगता, तब अनुभव होता है कि मनुष्य जो यज्ञ-तपस्या करता है, ईश्वर उन सब को ग्रहण करते हैं। वे ही विश्व ब्रह्माण्ड के एकमात्र नियन्ता एवं सभी प्राणियों के एकमात्र अपने हैं।

गीता के षष्ठ अध्याय का नाम है—ध्यान योग। इस अध्याय में विशेष रूप से चित्त संयमरूपी योग का उपदेश किया गया है। इस अध्याय के ४६ वें श्लोक में ज्ञानी की अपेक्षा योगी को श्रेष्ठ कहा गया है। यहाँ ज्ञानी कहने से जिन्होंने केवलमात्र शास्त्रों में पाण्डित्य अर्जन किया है किन्तु जिन्हें आत्मस्वरुप का अनुभव नहीं हुआ है, ऐसा समझना होगा और इस श्लोक में योगी कहने से समस्त चिन्तनों का त्यागकर मन को आत्मसंस्थ करने में समर्थ व्यक्ति को लक्ष्य किया गया है।

७/२ श्लोक में श्रीभगवान ने कहा है कि ईश्वरतत्त्व विषयक ज्ञातव्य विषय उसके अनुभव के फल सहित बोलना; जिस विषय को जानने पर जीवन के साफल्य-सम्पादन के लिए कुछ जानना शेष नहीं रहता।

७/१५ वें श्लोक में भगवान ने कहा है कि जिस हीन बुद्धि मानव का ज्ञान माया के द्वारा अपहृत होता है वह भजन में प्रवृत नहीं होता। यहाँ 'ज्ञान' कहने से शास्त्र-पाठ और श्रवण एवं ज्ञानी व्यक्ति के उपदेश से जो ज्ञान लाभ होता है, वह समझना होगा।

७/१६ वें श्लोक में कहा गया है कि आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी एवं ज्ञानी—इन चार श्रेणियों के मानव की भगवद् भजन में प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। इन सबने कुछ न कुछ सत् कर्मों का अनुष्ठान किया है- ऐसा नहीं करने पर उन सबको भजन की इच्छा नहीं होती। इस श्लोक में ज्ञानी शब्द का अर्थ है—जो आत्मा के साथ परमात्मा के सम्बन्ध से अवगत हुए हैं।

४/१७ वें श्लोक में कहा गया है कि इन चार श्रेणियों में ज्ञानी भक्त सब की अपेक्षा ईश्वर के प्रिय हैं एवं उस भक्त को ईश्वर परमप्रिय होते हैं। "मैं शरीर हूँ एवं मेरा शरीर है" इस प्रकार का अज्ञान नहीं रहने पर ज्ञानी भक्त का मन किसी इन्द्रिय भोग्य विषय के प्रति आकृष्ट नहीं होता। इसी से वे सर्वदा ईश्वरचिन्तन में रत रहते हैं; नित्य ईश्वर के साथ युक्त रहते हैं। और वे एकभक्ति होते हैं; उनके निकट भक्ति करने के लिए उपयोगी कोई अन्य देवता नहीं रहते।

७/१८ वें श्लोक में भगवान ने कहा है कि उक्त चारों प्रकार के भक्त शुभ बुद्धि सम्पन्न होते हैं, क्योंकि, उन लोगों में यह विश्वास उत्पन्न हुआ है कि ईश्वर सर्वशक्तिमान हैं। तथापि इन सब में आत्मज्ञान सम्पन्न भक्त, श्रेष्ठ एवं ईश्वर के साथ अभेद-प्राप्त होते हैं। इस श्रेणी के भक्त सर्वदा ईश्वरनिष्ठ रहकर मानवजीवन में प्राप्त श्रेष्ठ आश्रय को ग्रहण कर चुके होते हैं।

७/१९ वें श्लोक में कहा गया है कि अनेक जन्मों की साधना के फल से अन्तिम जन्म में साधक ज्ञानवान होकर ईश्वर के यथार्थ स्वरूप की उपलब्धि करते हैं। वे अनुभव करते हैं कि ईश्वर सब कुछ हो गये हैं, वे स्वयं ही जीव और जगत के रूप में प्रकाशित हो रहे हैं। इस प्रकार के अनुभव से सम्पन्न व्यक्ति की संख्या जो सर्वदा सर्वत्र ईश्वर के प्रकाश का अनुभव करते हैं, बहुत कम है।

नवम अध्याय के प्रथम श्लोक में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कहा, "चूँकि तुम मेरे उपदेश के प्रति अवज्ञा का भाव नहीं धारण करते, इसलिए तुम उसे सुनने के उचित अधिकारी हो। अभी तुम्हें अत्यन्त गोपनीय ज्ञान के विषय में विज्ञान के साथ कहूँगा, जिसे जानने एवं अनुभव

करने के फलस्वरूप तुम जन्म-मरण रूपी दुःख से परित्राण पाओगे।"

धर्म विषयक ज्ञान गुह्य है। यह साधारण बुद्धि के लिए अगम्य है। देह से भिन्न आत्मा विषयक ज्ञान गुह्यतर है। और, ईश्वर का स्वरूप विषयक ज्ञान होता है गुह्यतम। भगवान ने उसी ज्ञान के विषय में 'सविज्ञान' अर्थात् साधना के उपाय के साथ कहा। ज्ञान को जाना नहीं जाता। इसीसे 'ज्ञात्वा' शब्द का अर्थ है 'अनुभव के फल से'।

नवम अध्याय के १५ वें श्लोक में ज्ञानयज्ञ द्वारा ईश्वर की उपासना की बात बतायी गयी है। एक ही ईश्वर सर्वत्र समभाव से वर्त्तमान हैं,—इस प्रकार की दृढ़ धारणा का नाम ज्ञान है। यह ज्ञान भी एक प्रकार का यज्ञ है। इस ज्ञान यज्ञ के साधकों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। एक वर्ग के साधक ईश्वर के साथ अपने अभेद भाव की उपलब्धि की साधना करते हैं। कोई-कोई अपने को ईश्वर का नित्य दास अनुभव करते हैं; अथवा, सख्य वात्सल्य आदि किसी भाव के अवलम्बन के द्वारा साधना करते हैं। फिर कोई, एक ईश्वर ही नाना देव-देवी के रूप में विराजित हैं, इस प्रकार की धारणा के वशीभूत होकर, किसी भी एक देवता के रूप में सर्वात्मक ईश्वर की उपासना करते हैं।

गीता के दशम अध्याय के चौथे एवं पाँचवें श्लोक में बुद्धि आदि अनेक प्रकार के भाव अर्थात् मानसिक प्रवृत्तियों के साथ ज्ञान समझना होगा।

१०/११ वें श्लोक में ज्ञान की दीप के साथ तुलना गयी है। दीप जलाने से जैसे घर का अन्धकार और भय मिट जाते हैं उसी प्रकार ईश्वर के स्वरूप की उपलब्धि के फलस्वरूप अज्ञान से उत्पन्न बार-बार जन्म-मरण जनित दुःख की शीघ्र निवृत्ति हो जाती है। इस श्लोक में श्रीभगवान संसार के दुःख-तप्त मानव को अभय प्रदान कर कहते हैं,— जो लोग उनके (ईश्वर के) साथ सतय युक्त रहकर प्रीतिपूर्वक भजन करते हैं उनलोगों के समीप वे (ईश्वर) अपने स्वरूप को प्रकाशित करते हैं। इस ज्ञानालोक के प्रकाशित होने के फलस्वरूप उन लोगों का संसार-बन्धन नष्ट होता है।

१०/३८ वें श्लोक में भगवान ने कहा है, वे आत्म-ज्ञानी लोगों के अन्तःकरण में ज्ञानरूप से प्रकाशित रहते हैं।

१२/२२ वें श्लोक में अभ्यासकी अपेक्षा ज्ञान एवं ज्ञान की अपेक्षा ध्यान को उत्कृष्ट कहा गया है। यहाँ ज्ञान कहने से, युक्ति और विचार की सहायता से शास्त्र एवं गुरु का उपदेश जिस रूप में समझा जाता है, उसी प्रकार को ज्ञान कहते हैं,—यह तात्पर्य है। इस ज्ञान को बुद्धि द्वारा समझने की चेष्टा नहीं कर किसी प्रकार की साधना का अभ्यास करना निश्चय ही उत्कृष्ट है। और इस प्रकार के ज्ञान से भगवद्भाव में तन्मय होकर रहना उत्कृष्ट है।

आधुनिक युग में धर्म की आवश्यकता

—स्वामी सत्यरूपानन्द

बेलुड़ मठ।

आवागमन और संचार के आधुनिक वैज्ञानिक साधनों ने इस विशाल विश्व को मानो सिकोड़कर छोटा कर दिया है। आज संसार का कोई भी देश या राष्ट्र विश्व के अन्य देशों तथा राष्ट्रों से अपना सम्बन्ध तोड़कर स्वतंत्र ईकाई के रूप में अपना पूर्ण विकास नहीं कर सकता। एशिया तथा अन्य पूर्वी देश आज वैज्ञानिक तथा यांत्रिक सुविधा एवं निपुणता के लिए अमेरिका तथा योरोप के राष्ट्रों पर निर्भर हैं। पूर्वी देशों के छात्र इन देशों में जाकर विज्ञान तथा यांत्रिकी की शिक्षा पा रहे हैं। वहाँ से लौटकर वे लोग अपने-अपने देशों में भी वैज्ञानिक और यांत्रिक सुविधाएँ उपलब्ध कराने की चेष्टा में लगे हुए हैं। दूसरी ओर एशिया तथा पूर्वी देशों के कच्चे मालों पर योरोप और अमेरिका के कारखाने निर्भर हैं। उन देशों में बने हुए माल की बिक्री के लिए पुनः उन देशों को एशिया तथा अन्य पूर्वी देशों के बाजारों में आना पड़ता है।

रेडियो, टेलीविजन आदि यंत्रों के कारण संसार के किसी अज्ञात कोने में घटनेवाली घटना का विवरण क्षण मात्र में ही समस्त संसार को प्राप्त हो जाता हैं तथा उस घटना से विश्व के सभी देश प्रभावित होते हैं। आधुनिक विश्व में उत्तर से दक्षिण ध्रुव तक तथा पृथ्वी की पूर्व से पच्चिम सीमा तक अब कोई 'अंधकार महाद्वीप' नहीं है। आज संपूर्ण संसार परस्पर परिचित एवं संबद्ध है। हमरा विश्व उस विशाल भवन की भाँति हो गया है जिसमें एक ही परिवार के अनेक सदस्य भिन्न-भिन्न कमरों में रहते हैं, जिनका अपना स्वयं का व्यक्तित्व तो है, किन्तु जिनकी सुरक्षा, उन्नति एवं अस्तित्व संपूर्ण परिवार की सुरक्षा उन्नति तथा अस्तित्व पर निर्भर है। आधुनिक संसार के सभी राष्ट्र या तो साथ-साथ जियेगें, उन्नति करेंगें या विनाश की विभीषिका में साथ-साथ नष्ट हो जायेंगे। इसके अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं है।

वैज्ञानिक शक्ति :

विज्ञान ने आज मनुष्य के हाथों में प्रकृति की अनेक महान और अदम्य शक्तियों का अधिकार सौंप दिया है। आज का वैज्ञानिक मानो सृष्टि का स्वामी बन बैठा है। विज्ञान ने हमें ऐसी शक्ति दी है जिसके द्वारा हम प्रतिदिन प्रकृति के रहस्यावरणों को एक-एक कर हटाते जा रहे हैं। किन्तु विज्ञान का प्रत्येक नवीन आविष्कार जहाँ एक ओर मनुष्य को अधिकाधिक शक्ति तथा ज्ञान प्रदान करता है, वहाँ दूसरी ओर वह, उसे, उसके महान अज्ञान तथा तुच्छ भौतिक शक्ति का भी आभास कराता जाता है। दूरदर्शनयंत्र के आविष्कार ने मनुष्य को ब्रह्माण्ड-का नया रूप दिखाया। नये-नये तारों और नक्षत्रों से उसका परिचय कराया, किन्तु साथ ही उसने यह भी बताया कि ब्रह्माण्ड कितना विशाल, कितना महान या दूसरे शब्दों में अनादि और अनन्त है। उसमें असंख्य सूर्य चन्द्र, तारे, नक्षत्र आदि हैं जिनके विषय में वैज्ञानिक का ज्ञान लगभग शून्य ही है। विद्युतशक्ति, अणुशक्ति आदि के रूप में विज्ञान ने मनुष्य को महान शक्तियाँ प्रदान की हैं। उन शक्तियों के प्रयोग द्वारा आज का वैज्ञानिक थोड़े ही समय में विश्व का विनाश कर सकता है। किन्तु वही वैज्ञानिक लाख प्रयत्न करके भी एक बार विस्फोट किये गये परमाणु बम की विनाशलीला को क्षण भरके लिये भी रोक नहीं सकता। विश्व को भस्म करने में समर्थ वैज्ञानिक जली हुई घास के एक तिनके को पुनः राख से

हरी घास नहीं बना सकता। इस प्रकार विज्ञान जहाँ एक ओर मनुष्य की असीम शक्तिमत्ता की संभावनाओं की ओर संकेत करता है, वहाँ दूसरी ओर मनुष्य की अत्यन्त सीमित भौतिक शक्तियों की ओर भी अंगुली निर्देश करता है।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण

विज्ञान ने मनुष्य को केवल भौतिकी तथा यांत्रिकी शक्तियां ही नहीं दी हैं, उसने उसे जीवन के प्रति एक नया दृष्टिकोण भी दिया है। अंध विश्वास तथा रूढ़ मान्यताओं की दीवार को हटाकर विज्ञान ने मनुष्य के विचार तथा विश्वास के क्षेत्र में महान विस्तार किया है। आज हम प्रकृति के रहस्यों से भयभीत हो कर, उसे देवता मान उसकी पूजा नहीं करते अपितु साहस पूर्वक मृत्यु भय का भी संकट स्वीकार कर प्रकृति के रहस्यों को जानने का, उसके कारणों को ढूँढ़ने का अथक प्रयत्न करते हैं। आज का शिक्षित व्यक्ति किसी तथ्य को इसलिए स्वीकार नहीं कर लेता कि वह तथ्य किसी प्राचीन ग्रन्थ में लिखा है, अथवा उसे किसी महान व्यक्ति ने कहा है। किसी तथ्य को स्वीकार करने के पूर्व आज का शिक्षित व्यक्ति उसका प्रमाण चाहता है। उसका कारण जानना चाहता है। तर्क और कार्य कारण की कसौटी पर यदि वह तथ्य खरा उतरता है तब कहीं मनुष्य उसे स्वीकार करता है। विज्ञान ने आधुनिक मानव को तार्किक दृष्टिकोण प्रदान किया है प्रो० पी० नागराजराव ने लिखा है—

"विज्ञान केवल तकनीकता नहीं है, वह जीवन का एक दृष्टिकोण है जो तर्कवाद के नाम से जाना जाता है।"

वैज्ञानिक दृष्टिकोण के दोष

विज्ञान का यह दृष्टिकोण यथार्थवादी है। इसलिये विज्ञान सत्य के उतने ही अंश स्वीकार करता है जितने का ज्ञान उसे इन्द्रियों की सामान्य या यंत्रों द्वारा वर्धित शक्ति से होता है। अन्त:स्फूर्त बोधात्मक ज्ञान को विज्ञान स्वीकार नहीं करता। विज्ञान प्रयोग और निरीक्षण द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है, अत: उसका ज्ञान बुद्धि और तर्क की सीमा में ही आबद्ध रह जाता है। एक विद्वान का कथन है—

"मन की वैज्ञानिक प्रकृति अपने अनुभवात्मक आग्रह तथा निरीक्षण और प्रयोग की पद्धति के कारण विज्ञान को इन्द्रिय और तर्क की सीमा में आबद्ध कर देती है।"

इस दृष्टिकोण के कारण विज्ञान तथा वैज्ञानिक की दृष्टि में मनुष्य केवल एक भौतिक ईकाई मात्र है। वह विभिन्न रासायनिक द्रव्यों का संघात मात्र है जिसमें इस संघात ने गति या जीवन उत्पन्न कर दिया है। यदि उसे चेतन कहा जाय तो वह एक भौतिक चेतना मात्र है।

अन्त:स्फूर्त ज्ञान का महत्त्व :

अनुभव हमें बताता है कि मानवीय ज्ञान की समस्त राशि केवल तर्क और बुद्धि द्वारा ही नहीं प्राप्त की गयी है। उसमें अन्त:स्फूर्त बोधात्मक ज्ञान का भी बहुत बड़ा योगदान है। संगीत, साहित्य, कला आदि-क्षेत्रों में उपलब्ध ज्ञान तर्क और बुद्धि का परिणाम नहीं है। वह अन्त:करण में स्वयं उद्भूतज्ञान की बाह्य अभिव्यक्ति है। वाल्मीकि, कालिदास, होमर, तुलसीदास, वर्डस्वर्थ, रवीन्द्रनाथ आदि महाकवियों की रचनाएँ जिन्होंने अपने युग की धारा को बदल दिया था तर्कभूत ज्ञान नहीं है। बुद्धि एवं तर्क द्वारा इस अनुभूत ज्ञान का विश्लेषण तो किया जा सकता है किन्तु उनके द्वारा इसका निर्माण नहीं किया जा सकता। विज्ञान के क्षेत्र में भी सभी महान वैज्ञानिक अविष्कार तर्क बुद्धि जन्य ही नहीं हैं। कई महान वैज्ञानिकों को उनके विख्यात अविष्कारों का ज्ञान अन्त:स्फूर्त ज्ञान के द्वारा ही प्राप्त हुआ था। उस ज्ञान को प्रायोगिक विज्ञान द्वारा क्रमबद्ध कर उन्होंने उसे विश्व को दिया। एक विद्वान ने लिखा है—"महान आविष्कार अन्त:स्फूर्त दर्शन तथा बोध के परिणाम हैं।"

मानवीय अनुभव केवल इन्द्रियों तक ही सीमित न

है। डा० राधाकृष्णन ने लिखा है —"अनुभव केवल दर्शन तथा अन्तर्निरीक्षण तक ही सीमित नहीं है। उसमें अतीन्द्रिय जगत तथा आध्यात्मिक स्तर भी सम्मिलित है।"

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मानवीय ज्ञान रूपी भवन के निर्माण में अन्तःस्फूर्त बोधात्मक ज्ञान का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

सुख की खोज मानव की मूल प्रवृत्ति :

आधुनिक युग की दो महान विशेषताएँ हैं, पहली वैज्ञानिक उपलब्धियाँ और दूसरी जीवन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण। किन्तु इनके साथ ही वैज्ञानिक दृष्टिकोण के कुछ दोष भी हैं जिनकी संक्षिप्त चर्चा ऊपर की गयी है। विज्ञान ने मानवजीवन को सुखी बनाने की अनेक सुविधाएँ दी हैं। भोजन, शरीर रक्षा आदि के लिए अब मनुष्यको यहाँ-वहाँ भटकना नहीं पड़ता। विज्ञान ने उनकी समुचित व्यवस्था कर दी है! द्रुत वाहनों ने दूरी को मानो मिटा ही दिया है। पहिले जो काम महीनों में होता था मशीनें आज उसे घंटों में कर देती हैं। आधुनिक मनुष्य के पास अधिक सुविधाएँ और पर्याप्त समय है। बहुत से क्षेत्रों में मशीनों ने मनुष्य का स्थान लेकर उसे अधिक समय प्रदान किया है। मनुष्य इस समय का उपयोग और अधिक सुविधाएँ जुटाने में करता है। यहाँ एक प्रश्न उठता है कि सुविधाओं से मनुष्य क्या चाहता है? हम सभी लोग इस प्रश्न का प्रायः एक ही उत्तर देंगे और वह यह कि मनुष्य सुविधाओं से सुख चाहता है। एक अनुभवी अमरीकी मानसिक चिकित्सक ने लिखा है—

"वास्तव में एक ही मूल लक्ष्य है जिसकी खोज सभी करते हैं, वह है 'सुख'।"

दूसरे एक मनीषी का कथन है "हम किसी न किसी रूप में सुख चाहते हैं। हम इस जीवन में तथा आगामी जीवन में सुख चाहते हैं"

उपनिषद् कहते हैं :—

"जब मनुष्य को सुख प्राप्त होता है तभी वह (कर्म) करता है। बिना सुख मिले कोई (कर्म) नहीं करता।',

हमगें से प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करता है कि हम अपने जीवन के कर्म सुख प्राप्ति के लिये ही करते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सुख की खोज मनुष्य की मूल प्रवृत्ति है।

बहिर्मुखता तथा व्यक्तित्व का विघटन :

दृश्यमान बाह्य जगत ही विज्ञान की खोज का विषय है। अतः विज्ञान द्वारा प्राप्त दृष्टि कोण भी सर्वथा बहिर्मुखी है। आधुनिक मानव स्वयं को छोड़कर संसार की और सभी वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है। इस प्रयत्न में उसने अपने मन और शरीर की सभी शक्तियों को लगा दिया है। इससे उसे कुछ उपलब्धियाँ भी हुई हैं। किन्तु वह अनुभव करता है कि बड़ी से बड़ी उपलब्धि भी, जबतक कि उसका अपना व्यक्तित्व संगठित एवं संतुलित न हो, उसे मानसिक शांति और आनन्द नहीं दे सकती। आज के युग में असंख्य सुविधाएँ उपलब्ध हैं। व्यक्ति सुविधाओं में सुख ढूँढ़ता है। किन्तु वह भूल जाता है कि सुख सुविधाओं में न होकर उन सुविधाओं का उपभोग करने वाले व्यक्ति के मन में होता है। सुख को अपने से बाहर ढूँढ़ने के प्रयत्न में मनुष्य अपनी सभी इन्द्रियों द्वारा संसार के विभिन्न विषयों का स्वाद लेता है किन्तु वह अनुभव करता है कि कहीं भी उसे स्थायी सुख नहीं मिल पाता। वह जो चाहता है वह उसे नहीं मिल पाता। संसार के विषय भोगों का निरंतर भोग करने के कारण उसकी इन्द्रियां स्वच्छन्द हो जाती हैं, परिणामस्वरूप मनुष्य का अपने आप पर कोई अधिकार नहीं रह जाता। उसकी स्वतन्त्र इच्छा शक्ति समाप्त हो जाती है तथा वह पूर्णतः अपनी इच्छाओंका दास हो कर यंत्रवत् इन्द्रिय उत्तेजनाओंका अनुसरण करने लगता है। इस प्रकार उसका व्यक्तित्व सर्वथा विघटित हो जाता है। ऐसा व्यक्ति संसार में कोई भी महत् कार्य करने योग्य

नहीं रह जाता। उसके जीवन में कोई विशेष उपलब्धि नहीं हो पाती। परिणाम स्वरूप उसका व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन दुःखपूर्ण, नगण्य एवं निरर्थक हो जाता है।

हममे से प्रत्येक ने ऐसे व्यक्तियों को देखा होगा जो न चाहते हुए भी अपनी आदतों के अधीन रहते हैं। कितने ऐसे लोग हैं जो धूम्रपान छोड़ना चाहते हैं, उससे उनका स्वास्थ्य नष्ट हो रहा है, किन्तु छोड़ नहीं पाते। कितने परिवार क्रोध तथा कलह के कारण अशांत और दुःखी हैं।

मनुष्य का वास्तविक स्वरूप :

आधुनिक युग की सबसे बड़ी आवश्यकता है मनुष्य का मूल्यांकन। उसके संबंध में सच्चा और सही दृष्टि-कोण। आधुनिक विज्ञान इस संबंध में हमारा मार्ग दर्शन नहीं कर सकता। मनुष्य क्या है? उसका वास्तविक स्वरूप क्या है? मनुष्य के भीतर वह कौन सी शक्ति है जो उसका नियंत्रण करती है, उसे भले बुरे का ज्ञान देती है, उसमें नैतिक भावनाएँ, सत्य के प्रति निष्ठा, त्याग, बलिदान आदि की महान प्रवृत्तियाँ उत्पन्न करती हैं। विज्ञान यहाँ मौन हो जाता है। विज्ञान की दृष्टि में मनुष्य जड़ पदार्थों के एक गतिशील संघात के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मनुष्य की भावनाओं, संवेदनाओं आदि के लिए विज्ञान में कोई स्थान नहीं है। किन्तु अनुभव हमें बताता है कि मनुष्य के भीतर जड़ तत्त्वों के अतिरिक्त और भी कुछ है। यही 'कुछ' उसे मनुष्य बनाता है।

वेदों तथा उपनिषदों में मनुष्य के वास्तविक स्वरूप की विस्तृत चर्चा की गयी है। वहाँ बतया गया है कि मनुष्य मूलतः शुद्ध, बुद्ध, चैतन्य आत्मा है। वह मन वो मन का हाड़-मांस का पुतला मात्र नहीं है। तंत्र में कहा गया है "मैं देवता हूँ,। मैं साक्षात ब्रह्म स्वरूप हूँ; शोक मेरा स्पर्श नहीं कर सकता। मैं सच्चिदानन्द स्वरूप हूँ, नित्य मुक्तस्वभाव वाला हूँ।"

श्रुति कहती है "अहं ब्रह्मास्मि" मैं ब्रह्म हूँ।

स्वामी विवेकानन्दजी ने कहा है "प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है।"

संसार के सभी महान धर्म, सभी मसीहा, पैगम्बर यह घोषणा करते हैं कि मनुष्य केवल मात्र भौतिक ईकाई ही नहीं है, उसके भीतर एक दिव्य चेतना भी विद्यमान है। वही उसका वास्तविक स्वरूप है। यह मूलतः शुद्ध, बुद्ध, नित्य और चैतन्य है। अज्ञान तथा बहिर्मुखी वृत्ति के कारण मनुष्य अपने सच्चे स्वरूप को नहीं जान पाता और इसलिए उसे इतना दुःख भोगना पड़ता है।

धर्म आत्मा का विज्ञान है :

धर्म आधुनिक युग की इस सबसे बड़ी आवश्यकता की पूर्ति करता है। धर्म हमें अपनी आत्मा को खोजना सिखाता है। धर्म कहता है पहिले आप को जानो। स्वयं से परिचित हो जाओ, फिर संसार से परिचय करना सहज हो जायेगा। स्वयं को जानने के पश्चात् संसार का ज्ञान अधिक अच्छी तरह प्राप्त किया जा सकता है। सारे संसार का ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् भी यदि हम अपने आप से अपरिचित रह गये, अपने स्वरूप को न जान सके, तो हमारा जीवन व्यर्थ है। हम मनुष्य जीवन का प्रयोजन सिद्ध करने मे असमर्थ रहे।

मनुष्य अणु का भंजन कर सकता है किन्तु हमे यह न भूलना चाहिए कि जो मनुष्य अणु का भंजन करता है उसका मन अणु से अनंत गुणा श्रेष्ठ और शक्तिशाली है। धर्म मनुष्य के भीतर छिपी हुई इस शक्तिको ढूँढने का उपाय बताता है। मनुष्य के भीतर निहित अपार शक्ति का संगठन करना ही धर्म का कार्य है। मानव अंतःकरण ही धर्म का कार्यक्षेत्र है। धर्म आत्मा का विज्ञान है, जो हमें आत्मा को अनंत शक्ति से परिचित कराता है, उसके रहस्य बताता है, तथा अंत मे हमे उस महान शक्ति का अधिकारी बना कर हमारा जीवन कृतार्थ कर देता है।

धर्म संगठक तत्व है :

धर्म की आवश्यकता तथा महत्ता को समझने के लिए धर्म शब्द के शाब्दिक अर्थ पर भी थोड़ा विचार कर लेना आवश्यक है। धर्म शब्द 'धृ' धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ होता है धारण करना। जो तत्व किसी वस्तु को धारण करता है, उसके अस्तित्वका आधार है, वही धर्म है। अत: जो तत्व व्यष्टि को, समष्टि को, विश्व ब्रह्माण्ड को, धारण कर रखता है, वह धर्म है। डा० राधाकृष्णनन ने लिखा है "अपने मूल में धर्म व्यक्तित्व का संगठन और समाज की मुक्ति है।" वास्तव में धर्म बिखरे हुए व्यक्तित्व को संगठित कर व्यक्ति को पूर्णता तथा समाज को स्थायित्व देता है। समाज में जब संगठित व्यक्तित्व संपन्न लोगों की संख्या अधिक होती है तब समाज अनेक दोषों और दुर्बलताओं से मुक्त हो जाता है। ऐसे समाज में ही व्यक्ति को उसके सर्वांगीण विकास का पूर्ण अवसर प्राप्त होता है।

धर्म एक जीवन पद्धति है :

हमारे जीवन में धर्म की क्या आवश्यकता है इस बात को समझने के लिए जीवन स्वयं क्या है ? इस पर भी दृष्टिपात कर लेना चाहिए। स्वामी विवेकानन्दजी ने जीवन की एक अत्यन्त सारगर्भित परिभाषा दी है :—

"दमन कारक परिस्थितियों के मध्य 'जीव' का अनावरण और विकास जीवन है।"

जीवन की इतनी सरल तथा पूर्ण परिभाषा अन्यत्र मिलना कठिन है। कितनी भी कठिन तथा प्रतिकूल परिस्थिति क्यों न हो उसके सामने पराजय स्वीकार न करते हुए निरंतर अपनी महानता को अपने दैवत्व को प्रकट करने का प्रयत्न ही जीवन है। हमारे देवत्व को प्रकट करने में धर्म हमारी सहायता करता है। धर्म जीवन की वह पद्धति है जिसके द्वारा मनुष्य के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास एवं पूर्णता संभव है। डा० राधाकृष्णनन् धर्म की परिभाषा करते हुए लिखते हैं—

"धर्म मानव जीवन की पूर्णता है। यह एक अनुभव है जिसमें व्यक्ति के जीवन का प्रत्येक पक्ष अपनी चरम सीमा तक उन्नत हो जाता है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म जीवनयापन की वह महान कला है जो 'नर' को 'नारायण' बना देती है।

धर्म जीवन का निर्माता और नियामक है :

वनस्पतियों और पशुओं तक जीवन विकास की प्रक्रिया स्वचालित होती है। उसमें वनस्पतियों या अन्य प्राणियों का कोई उल्लेखनीय योगदान नहीं होता। प्राकृतिक नियमों द्वारा ही उनका विकास होता जाता है। किन्तु मानवीय प्रयत्न का यथेष्ट योगदान होता है। इस स्तर पर विकास की गति अत्यन्त तीव्र हो जाती है। एक विद्वान ने लिखा है—

"मानवीय स्तर पर विकास की प्रक्रिया अत्यधिक तीव्र हो जाती है। वह स्वचालित और अंधी नहीं रह जाती। मनुष्य विकास के दोराहे पर खड़ा होता है। यह उस पर निर्भर है कि वह आगे विकास करे या पाशविक बर्बरता में डूब जाय। प्रकृति मनुष्य को उसके प्रयत्न के बिना आगे बढ़ने में सहायता नहीं करती।"

जहाँ मनुष्य के आत्म विकास का प्रश्न आता है, वहीं हमारे जीवन में धर्म की आवश्यकता प्रारंभ हो जाती है। संस्कृत के एक सुभाषित में पशु और मनुष्य का अंतर बताते हुए कहा गया है—

"आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि में पशु और मनुष्य समान है। धर्म ही मनुष्य में एक ऐसा तत्व है जो उसे पशु से भिन्न विशेष स्तर प्रदान करता है।"

मनुष्य के विकास का अर्थ है उसके मानवीय गुणों का विकास, उसके नैतिक चरित्र का विकास। मनुष्य जितना उदार, दयालु, सहिष्णु, परोपकारी, स्नेहशील, सेवापरायण, निःस्वार्थी, संयमी और त्यागी होता है वह उतना ही महान् बनता जाता है। ऐसे व्यक्ति का अपने मन तथा इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार होता है। अपवाद

बुद्ध, महात्मा ईसा, गुरु नानक देवजी तथा हमारे युग में भगवान श्रीरामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द आदि ऐसी विभूतियां हो गयी हैं जिनमें मनुष्य के हृदय में सुप्त आत्मा का पूर्ण जागरण तथा विकास घटित हुआ था। सभी महापुरुष जिन्होंने अपने जीवन का चरम विकास कर इसी जीवन में पूर्णता प्राप्त कर ली थी, धार्मिक थे। उनके श्वास प्रश्वास में धर्म स्पन्दित था। उनके जीवन की प्रत्येक क्रिया धर्म का विधान थी। उनका आचरण धर्म का मूर्तिमान स्वरूप था। धर्म से ही उनके जीवन का निर्माण हुआ था।

अतः हम देखते हैं कि मनुष्य के विकास के लिए, उसकी पूर्णता के लिए, धर्म की नितांत आवश्यकता है। धर्म मानव स्वभाव का एक आधारभूत तत्व है। उसके बिना मनुष्य के व्यक्तित्व का गठन हो ही नहीं सकता। डा० राधाकृष्णनन ने लिखा है—

"यह (धर्म) मानव स्वभाव का एक आभ्यन्तरिक तत्व है।"

भौतिक विज्ञान की महान् उपलब्धियों के कारण भौतिकता की चकाचौंध में हम मानव जीवन की मौलिक आवश्यकता धर्म को भूलते जा रहे हैं। यह एक दुर्भाग्य-पूर्ण स्थिति है।

वैज्ञानिक ज्ञान एक महान् शक्ति है; किन्तु उस शक्ति का उपयोग कहाँ करें, कैसे करें? इस विषय का ज्ञान उससे भी महान शक्ति है। विज्ञान हमें यह शक्ति नहीं दे सकता। विज्ञान साधन तो दे सकता है, किन्तु साध्य के विषय में वह हमें कुछ भी नहीं बता सकता। मनुष्य संसार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है, किन्तु उसके जीवन का क्या प्रयोजन है, यह विज्ञान हमें नहीं बता सकता। हमारे युग की एक जटिल समस्या है जीवन की उद्देश्य-हीनता। धर्म इस समस्या का सर्वांगीण पूर्ण हल प्रस्तुत करता है। धर्म कहता है मानव जीवन का प्रयोजन है मनुष्य के भीतर प्रसुप्त परमात्मा को जागृत करना। 'नर' से 'नारायण' बनना।

धर्म मनुष्य के आंतरिक विकास की प्रक्रिया है। सामान्य परिस्थितियों में मनुष्य अपूर्ण रहता है। मौलिक रूप में मनुष्य 'पूर्ण' है किन्तु अज्ञान के कारण उसे उसकी पूर्णता का बोध नहीं होता। स्व प्रयत्न पूर्वक साधना द्वारा उसे अपनी पूर्णता की अनुभूति करनी पड़ती है। इसके लिए अशुद्ध मन को शुद्ध करना पड़ता है। मन की शुद्धि की यह प्रक्रिया भीतर होती है, बाहर नहीं। आंतरिक शुद्धि, शास्त्रीय भाषा में चित्त शुद्धि की यह प्रक्रिया धर्म के द्वारा ही संभव है या यो कहें यही धर्म है।

आज हम उस दुराहे पर खड़े हैं जहाँ एक ओर विनाश और दूसरी ओर विकास का मार्ग है। भौतिक-वादी, वैज्ञानिक शक्ति से उन्मत्त मानव, बल प्रयोग द्वारा किसी भी क्षण विश्व का विनाश कर सकता है। भौतिक बल द्वारा उस पर अधिक समय तक नियंत्रण नहीं रखा जा सकता। मानव हृदय की शुभ वृत्तियों को उन्नत एवं विकसित कर उसके हृदय में सोये हुए परमात्मा को जगा कर ही उसे विनाश से बचाया जा सकता है और यह कार्य केवल धर्म के द्वारा ही संभव है। धर्म ही मनुष्य को परस्पर सहोदर बना कर उसे प्रेम सूत्र में बांध सकता है। धर्म की प्रेरणा से ही व्यक्ति मानव कल्याण के लिए अपना सर्वस्व समर्पण कर अपनी आहुति तक देने को प्रस्तुत हो सकता है।

अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक युग में धर्म की जितनी आवश्यकता है उतनी संभवतः इतिहास के किसी और युग में नहीं थी।

ध्यान और उसके प्रकार

—स्वामी ब्रह्मेशानन्द
रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम
वाराणसी।

(३)

अन्य प्रकार के ध्यान

जिस प्रकार एक रूप का अवलम्बन लेकर ध्यान किया जाता है, उसी प्रकार शब्द या ध्वनि के सहारे भी ध्यान किया जा सकता है। एक बार स्वामी विवेकानन्द ने श्रीरामकृष्ण से शिकायत की कि ध्यान के समय निकटस्थ फैक्ट्री के भोंभें की आवाज से व्यवधान होता है। इस पर श्रीरामकृष्ण ने इस आवाज पर ही ध्यान करने का निर्देश दिया। कुछ लोग रूप के बदले अधिक नाम अथवा ध्वनि-प्रवण होते हैं। ऐसे लोग मंत्र का मन मन ही मन या जोर से जप करते हुए उसकी ध्वनि पर मन को एकाग्र कर सकते हैं। जिस प्रकार अर्थ का चिन्तन किये विना रूप का ध्यान हृदय अथवा भ्रू-मध्यादि अन्य किसी स्थान में किया जाता है, उसी प्रकार ध्वनि/मंत्र का ध्यान भी हृदय में किया जा सकता है।

वेदान्त साधना के समय श्रीरामकृष्ण की वेदान्त साधना में गुरु तोतापुरी ने उन्हें निर्गुण ब्रह्म में मन को लीन करने का निर्देश दिया। लेकिन श्रीरामकृष्ण ऐसा न कर सके, क्योंकि माँ जगदम्बा का चिर परिचित रूप उनके मानस पटल पर उभर आता था। तब तोतापुरी ने निकट पड़े एक कांच के टुकड़े को श्रीरामकृष्ण के भ्रूमध्य में गाड़ते हुए उस विन्दु पर मन एकाग्र करने का आदेश दिया। ठीक इसी प्रकार की बात स्वामी विवेकानन्द के साथ श्रीरामकृष्ण ने भी की। उन्होंने अपने तीक्ष्ण नखाग्र को स्वामीजी के मस्तक में गड़ाकर उन्हें उस स्थान पर मन को एकाग्र करने का आदेश दिया था। वेदना के बिन्दु में मन आसानी से केन्द्रित हो जाता है, अतः धारणा के लिए पीड़ा एक उत्कृष्ट उपाय है। मन के एक स्थान, वेदना के स्थान, पर बद्ध हो जाने पर उसी स्थान पर चैतन्य का चिन्तन/ध्यान आसानी से किया जा सकता है।

वेदान्त सिद्धान्त पर आधारित ध्यान :

(१) सोचो कि सच्चिदानन्द मानो एक सागर है तथा उसमें तुम जीवात्मा मीन की तरह विचरण कर रहे हो।

(२) कल्पना करो कि सच्चिदानन्द ब्रह्म आकाशवत् निराकार है तथा तुम जीवात्मा एक पक्षी की तरह उसमें उड़ रहे हो।

(३) सच्चिदानन्द सागर है तथा उसमें एक घट डूबा हुआ है, जो भीतर बाहर जल से व्याप्त है। यह है जीवात्मा। अब सोचो की घट फूट गया है और अब सर्वत्र केवल जल-ही-जल हो गया है।

(४) सच्चिदानन्द सागर है, लहरें एवं बुद्बुदे जीव हैं, तथा एक बड़ी लहर अवतार हैं।

(५) सर्वत्र एक अखण्ड ज्योति परिव्याप्त है, जिसमें मैं जीवात्मा भी एक ज्योतिपुंज हूँ। अन्य प्राणी भी ज्योतिपुंजों के रूप में इस अखंड ज्योति के अन्दर वर्तमान हैं।

शास्त्र वाक्यों का ध्यान :

प्रत्येक शब्द का अर्थ होता है। शब्द और अर्थ या उसके द्वारा अभिव्यक्त विचार अभिन्न हैं। ये अर्थ भी अनेक हो सकते हैं। कभी-कभी शब्दों एवं वाक्यों के मात्र वाच्यार्थ से उनका सही अर्थ नहीं निकलता। शब्दों के पीछे वाच्यार्थ से कहीं अधिक अर्थ निहित रहता है। इस अर्थ को जानने के लिए उस शब्द पर ध्यान करना आवश्यक है। अहं ब्रह्मास्मि, तत्वमसि आदि महावाक्यों के वाच्यार्थ तो प्रसिद्ध हैं ही।

स्वामी तुरीयानन्दजी गीता के प्रत्येक श्लोक पर घण्टों ध्यान किया करते थे, जिससे वे उसके गूढ़ार्थ एवं नाना अर्थ जान पाते थे। जैन शास्त्रों में भगवान महावीर के उपदेशों का ध्यान तथा ईसाई धर्म में ईसा मसीह के उपदेशों के ध्यान का विधान है। वस्तुतः ध्यान का लक्ष्य ही है ध्येय विषय का वास्तविक अर्थ जानना। ध्यान योग के चरम लक्ष्य एवं अन्तिम सीढ़ी, समाधि में परिणत होता है जिसकी परिभाषा है : "तदेवार्थमात्रनिर्भासा स्वरूप शून्यमिव समाधिः।" अर्थात् जहाँ ध्यान का प्रत्यय मानो तिरोहित होकर केवल उसका अर्थ मात्र प्रतिभासित होता है उसे समाधि कहते हैं। शब्द के आश्रय से ध्यान करना वस्तुतः मंत्र-योग अथवा नाम जप का विषय है।

स्वप्नज्ञान के अवलम्बन से किया गया ध्यान :

स्वप्न में बाह्य ज्ञान रुद्ध हो जाता है। उस अवस्था में मन बाह्य जगत के चिन्तन से निवृत्त हो, स्वच्छन्द, सूक्ष्म, अचेतन जगत में विचरता है। अतः कभी-कभी वह स्वप्नावस्था में ऐसे ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ होता है, जो जाग्रतावस्था में सम्भव नहीं होता। लेकिन स्वप्नों की भाषा जाग्रतावस्था से भिन्न सांकेतिक होती है। इन कारणों से स्वप्न में प्राप्त ज्ञान ध्यान के एक श्रेष्ठ प्रत्यय के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। स्वप्न में यदि देवी-देवताओं अथवा महापुरुषों का दर्शन हो, तो उनका ध्यान किया जा सकता है।

देवी-देवताओं के दर्शन न हों तो भी कभी हम ऐसा स्वप्न देख सकते हैं, जिसमें आनन्द अथवा गहरी शान्ति अथवा तृप्ति के भाव का स्वप्न में अनुभव हो, जो जाग्रतावस्था में सम्भवतः न हो। ऐसा उत्तम भाव पाने पर उसे बनाये रखना, एवं उस पर ध्यान करना चाहिए। यह स्वप्न में प्राप्त प्रत्यय के ध्यान से अधिक महत्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त, स्वप्नावस्था में जो बाह्य रुद्ध भाव, अर्थात् जाग्रतावस्था के बहिर्मुखी विचार से मुक्त भाव रहता है, उसे ध्यान के समय बनाये रखने का प्रयत्न करना चाहिए।

निद्राज्ञानालम्बन ध्यान :

निद्रावस्था में बाह्य तथा मानस दोनों प्रकार के विषय रुद्ध हो जाते हैं, तथा इन दोनों से विमुक्त जीवात्मा परमात्मा के साथ लीन हो जाता है, लेकिन अज्ञानवश उसका अनुभव अथवा भान नहीं रहता। अगर निद्रा जैसी शून्यवत् स्थिति सज्ञान बनायी जा सके तो वही ब्रह्मानुभूति हो जायेगी। अतः निद्रा की तरह मन को शून्यवत् बनाना, लेकिन स्मृति अथवा आत्म प्रत्यय (Self awareness) बनाये रखने का प्रयत्न करना चाहिए।

स्वप्न एवं निद्रा ज्ञान का अवलंबन ले ध्यान का उल्लेख पंतजलि ने अपने योग सूत्रों में किया है। लेकिन ये दोनों विशेष प्रकृति के लोगों के लिए ही उपयुक्त है।

बौद्ध धर्म में प्रचलित ध्यान की कुछ पद्धतियाँ :

बौद्ध धर्म में ध्यान को बहुत अधिक महत्व दिया गया है। इस विषय पर उस धर्म में साहित्य भी विशाल है। यहाँ संक्षेप में कुछ पद्धतियों का उल्लेख मात्र किया जाता है।

धारणा की विधियाँ— प्रारम्भ में साधकों को मानसिक गठन के अनुसार विभिन्न वस्तुओं, जैसे रंगीन रेखाओं, अभिताभ बुद्ध की मूर्ति आदि पर मन को एकाग्र करने को कहा जाता है। इन विषयों चयन गुरु करते हैं। यथा, कोई व्यक्ति बाह्य रूप

प्रति अत्यधिक आसक्त हो, अथवा काम के द्वारा विशेष रूप से पीड़ित हो तो उसे एक नर कंकाल पर मन को एकाग्र करने को कहा जाता है। रकाबियों पर विभिन्न प्रतीकात्मक चक्र अथवा चित्र बने रहते हैं जो व्यक्ति-विशेष के मन को प्रभावित करते हैं।

कोआन (Koan) का चिन्तन—'जेन' शाखा में एक रोचक पद्धति का प्रचलन है, जिसमें गुरु साधक को 'एक हाथ की ध्वनि' अथवा इसी प्रकार के किसी असंगत अर्थहीन वाक्य पर चिन्तन करने को कहता है। इसका अर्थ उस स्थिति को प्राप्त करना है, जहाँ तर्क न पहुँच सके, क्योंकि सत्य वाक्य-मनातीत होता है। प्रारंभ में युक्ति-विचार एवं कार्य-कारण श्रृंखला में सोचने का अभ्यस्त साधक का मन प्रस्तुत वाक्य का पूर्ववत् अर्थ निकालने का प्रयत्न करता है, पर एक क्षण ऐसा आता है जब वह इस तरह की प्रणाली का सत्य जानने में असमर्थता का अनुभव करता है। उसी क्षण उसे सत्य का साक्षात्कार होता है।

सेजेन विधि (Zezan)—हम किसी भी कार्य को अपने पूरे मन से नहीं करते, चाहे वह उठना-बैठना, चलना-बोलना, खाना आदि सामान्य कार्य ही क्यों न हो। हमारा मन एक ओर भागता रहता है, और हमारे शरीर व इन्द्रियाँ दूसरी ओर। इस विधि में साधक केवल 'बैठे रहने" "Just sitting" को सम्पूर्ण एकाग्रता से करने का प्रयत्न करता है। उसका शरीर पूर्ण रूप से स्थिर रहना चाहिए तथा मन में बैठने के चिन्तन के अतिरिक्त और कोई विचार नहीं उठना चाहिए। विशेषज्ञों का दावा है कि साधारण-सा प्रतीत होने वाला यह कार्य इतना कठिन है कि आधे घण्टे के बैठने में साधक पसीने से तर हो जाता है।

ध्यान में प्रगति का क्रम :

पूर्वोक्त विस्तृत वर्णन के आधार पर धारणा से अपने साधक जीवन को प्रारंभ करने वाला एक चंचल चित्त साधक जिन विभिन्न अवस्थाओं से गुजरता हुआ प्रगति करेगा उनको संक्षेप में निम्न प्रकार से क्रमबद्ध किया जा सकता है।

(१) **धारणा**—किसी केन्द्र (हृदय) में अथवा इष्ट के लीला चिन्तन में मन को निबद्ध करने का प्रयत्न करना।

रूप ध्यान—इष्ट के रूप विशेष अथवा ज्योति का ध्यान करना लेकिन रूप का भौतिक पक्ष अधिक प्रधान।

(३) **गुण ध्यान**— रूप गौण हो जाता है तथा इष्ट के गुण विशेष एवं चैतन्य सत्ता की अधिकतर अनुभूति होने लगती है।

(४) **चैतन्य सत्ता का ध्यान**—रूप पूर्ण रूप से विलुप्त हो जाता है. केवल इष्ट की चैतन्य सत्ता का ध्यान बना रहता है। ज्योति का ध्यान करने वाले साधक गुणध्यान की सीढ़ी से न गुजरते हुए इस स्तर पर पहुँचते हैं।

(५) **स्वरूप ध्यान**— साधक स्वयं को भी चैतन्यमय अनुभव करता हैं, तथा इष्ट व स्वयं को कभी भिन्न, अभिन्न अनुभव करने लगता है। अथवा

(६) साधक इष्ट एवं स्वयं को एक अखण्ड चैतन्य सत्ता के अंश के रूप में अनुभव करता है।

इसे राम नाम संकीर्तन की सहायता से किये गये ध्यान, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है, की सहायता से समझने का प्रयत्न करें।

सर्वप्रथम साधक १०८ नामावली की सहायता से भगवान राम की समग्र जीवन लीला का आद्यन्त चिन्तन करता हैं। भगवान के विभिन्न रूपों का एक के बाद एक ध्यान करता है। इसके परिपक्व होने पर उसका मन भगवान के किसी एक रूप यथा बालक अथवा सीतापति अथवा पट्टाभिषिक्त अयोध्या पति राम पर निबद्ध हो जाता है। धीरे-धीरे यह रूपविशेष केवल काल्पनिक चित्र मात्र न होकर जीवन्त, चैतन्य लगने लगता है। साथ ही भगवान के शौर्य, माधुर्य, करुणा,

कृपा-वत्सलता आदि गुणों का भी साधक ध्यान में अनुभव करता है। इसके बाद रूप व गुण भी गौण हो हो जाते हैं—केवल चैतन्य आनन्दमय सत्ता का ध्यान बना रहता है। अब साधक या तो इस सत्ता का अनुभव सर्वत्र करने लगता है, या स्वयं की सत्ता के साथ अभिन्न रूप से ध्यान करता है। ये अन्तिम दो अवस्थाएँ स्वरूप ध्यान की श्रेणी में आती हैं।

इन उच्चतम स्तरों पर आरोहण करना विरले पुण्यात्मा साधकों के भाग्य में होता है। अधिकांश साधक रूप ध्यान तक ही प्रगति कर पाते हैं, क्योंकि वे ध्यान की साधना में इतना समय नहीं दे पाते; न ही उनके जीवन में इतनी पवित्रता अथवा संतुलन होते हैं; जितनी आवश्यक है। अगर साधक इष्ट के रूप का स्पष्ट रूप से कुछ लम्बे समय तक ध्यान कर सके, तथा उसे इसमें आनन्द की अनुभूति होवे, तो उसे अपने को भाग्यशाली समझना चाहिए।

यह भी आवश्यक नहीं है कि साधक उपर्युक्त सीढ़ियों से होकर ही प्रगति करे। जिस प्रकार ध्यान की यहाँ वर्णित प्रणालियों के अतिरिक्त और भी अनेक प्रणालियाँ है, उसी तरह प्रगति का क्रम भी भिन्न हो सकता है। वस्तुतः प्रत्यय निर्धारण, ध्यान की पद्धति का निर्देश एवं प्रगति के विभिन्न स्तरों पर यह यथोचित मार्गदर्शन सीधे गुरु के द्वारा ही शिष्य प्राप्त करता है, एवं करना चाहिए। जिस प्रकार बिना गुरु के मात्र पुस्तक पढ़कर कोई व्यक्ति भौतिक शास्त्र अथवा रसायन शास्त्र नहीं सीख सकता, उसी प्रकार मात्र पुस्तकों से ध्यान में सिद्धि लाभ नहीं किया जा सकता। प्रस्तुत लेख केवल उन लोगों की सहायतार्थ एवं प्रेरणार्थ है जिन्हें सद्गुरु के मार्गदर्शन का सौभाग्य प्राप्त नहीं है।

चेतावनी एवं उपसंहार :

प्रस्तुत लेख को पढ़कर पाठक को संभवतः ध्यान के बारे में कुछ स्पष्ट धारणा हो जाये तथा बौद्धिक रूप से इसके स्तर आदि समझ में आ जावे। लेकिन केवल बौद्धिक समझ एवं साधना द्वारा विभिन्न स्तरों का अनुभव में बहुत बड़ा अन्तर है। लेखक, पाठक से यह निवेदन करना अपना कर्तव्य समझता है कि लेख पढ़कर यह न सोचें कि "मैंने ध्यान के बारे में सब कुछ जान लिया है।"

यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है कि ध्यान करना एवं उसमें प्रगति करना, जिस आसानी से यहाँ उसका वर्णन किया गया है, उतना आसान नहीं है। कोई भी छः सप्ताह या छः माह में समाधि लाभ नहीं कर सकता। ध्यान के प्रत्येक स्तर का दीर्घकाल तक निरंतर, दिन-प्रतिदिन, निष्ठा सहित अभ्यास करके उसमें स्थिति लाभ करना परमावश्यक है।

एक और खतरे के प्रति सावधान कर देना आवश्यक है। ध्यानाभ्यासी पाठक लेख को पढ़कर स्वयं किस स्तर पर खड़े हैं, समझ सकेंगे, तथा अगली सीढ़ी का दिशा निर्देश भी सम्भवतः प्राप्त कर लेंगे। लेकिन स्वयं के आध्यात्मिक स्तर का निर्धारण करने के लिए पर्याप्त विनम्रता की आवश्यकता है। मानव का अहंकारी मन कभी यह स्वीकार नहीं करना चाहता कि वह निम्न स्तर पर ही है। जो लोग ध्यान को मात्र एक रुचि अथवा फैशन के रूप में लेना चाहते हैं; अथवा उसमें जिनकी केवल बौद्धिक रुचि है, वे भले ही स्वयं के अहंकार को और अधिक फुला लें, लेकिन सच्चा निष्ठावान, ईमानदार साधक कभी भी स्वयं को धोखा नहीं देना चाहेगा। वह यह भली प्रकार जानता है कि न तो वह उच्च स्तर पर पहुँचा है और नहीं वह दो दिन में योगी हो सकता है। वह तो विनम्रता के साथ दीर्घ काल तक साधना के लिए तत्पर है। ऐसे ईमानदार ध्यानाभ्यासियों की सूचना के लिए यह कहा जा सकता है कि अधिकांश साधकों का वर्षों की निष्ठापूर्वक साधना के बाद भी अच्छा ध्यान कभी-कभी ही होता है, सब समय नहीं।

शेष पृष्ठ २४ पर

गतांक से आगे

स्वामी विवेकानन्द के संस्मरण

श्री मन्मथ नाथ गांगुली

अनुवादक—श्री विवेकानन्द यादव

सोने की घड़ी उपहार में :

उस दिन दोपहर बाद कुछ युवक स्वामीजी के दर्शन के लिए आये। वे दस या बारह की संख्या में थे तथा सभी शायद कॉलेज में पढ़ने वाले थे। वे स्वामीजी के कमरे के आगे पहली मंजिल पर गंगा की ओर वाले बरामदे पर जमा हुए थे। कुछ देर बाद स्वामीजी बाहर निकले और उनसे खुलकर वार्त्तालाप करने लगे। वे इतने प्रफुल्लचित थे कि स्वयं उन्हीं लोगों जैसे लगने लगे—बिल्कुल युवा और उत्साहपूर्ण। उन्होंने एक से बातचीत की, दूसरे को पीठ पर स्पर्श किया तथा अन्य युवक के कंधे को धीरे से थपथपाया। उनको इस भाव में देखना एक सुखद दृश्य था; क्योंकि मैंने बहुधा उन्हें गंभीर और अन्तर्मुख देखा था।

उनके कण्ठ के परितः एक सोने की सिकड़ी थी जो जेब में रखी एक सोने की घड़ी से जुड़ी हुई थी और यह उनके उज्ज्वल गौरवर्ण से खूब मेल खाती थी। उनमें से एक युवक ने सिकड़ी को ऊँगली से छूते हुए कहा, "यह बहुत सुन्दर है।" तत्क्षण स्वामीजी ने जेब से घड़ी निकाली और सिकड़ी सहित युवक के हाथ में रख दी जो विस्मित होकर हथेलियाँ दोने की तरह बनाये हुए था। उन्होंने कहा, "तुम इसे पसंद करते हो, इसलिए यह तुम्हारा है। किन्तु, मेरे बच्चे, इसे बेचना नहीं। तुम इसे यादगारी के रूप में रखो।" कहने की जरूरत नहीं कि वह युवक बेहद खुश था। जिस सहजता से स्वामीजी ने इस मूल्यवान वस्तु को उपहार के रूप में दे डाली उसके लिए मैं अत्यंत विस्मित था; केवल वस्तु की कीमत के लिए ही नहीं, करण स्वामीजी के संस्पर्श से वह उपहार अनमोल था। एक बार उन्होंने मुझसे कहा था, "त्याग का अर्थ है जो कुछ वस्तु तुम्हारे अधिकार में है, तुम्हारी अपनी है, उसका त्याग। एक व्यक्ति जिसके पास सब कुछ है, फिर भी वह उन वस्तुओं के प्रति उदासीन है तो वही वास्तव में अनासक्त आत्मा है। जिसके पास कुछ नहीं है, निर्धन है – वह भला क्या दे सकता है।"[1]

आगरा से प्राध्यापक गण :

क्रिसमस अवकाश में आगरा से कुछ विद्वान के लोग आये। उनमें से कुछ प्राध्यापक थे। सुबह लगभग नौ बजे थे। मठ के प्राँगण में कुछ बेंचें रखी थीं जिन पर आगन्तुक लोग बैठे थे और स्वामीजी भी एक कुर्सी लेकर उनके समीप बैठ गये। कॉलेज के इन वरिष्ठ अध्यापकों ने बारी-बारी से प्रश्न पूछा और स्वामीजी ने भी गंभीरता पूर्वक उत्तर दिया। समस्याएँ कई प्रकार की थीं— कुछ दार्शनिक, कुछ सामाजिक या राजनैतिक। वे लोग स्वामीजी के उत्तर से काफी संतुष्ट नजर आये और कुछ देर बाद चले गये।

मैं कुछ दूरी पर बैठा हुआ था और बात-चीत के सिलसिले को समझने की कोशिश कर रहा था। बीच-बीच में स्वामीजी मेरी ओर देख लेते जिससे मैं अपने आपको सहज और आनन्दित पाता।

साधु अमूल्य :

उस समय दिन के लगभग बारह बजे थे। अचानक स्वामीजी ने मुझसे पूछा, "साधु अमूल्य इलाहाबाद में रहता है। क्या तुम उसे जानते हो ? वह क्या करता है ? उसके बारे में सुनाओ तो जरा।"

मैंने कहा, "मैं उन्हें बहुत वर्षों से जानता हूँ। वे निःस्वार्थ भाव से सब की सेवा करते थे। उनका साहस और सेवा के प्रति निष्ठा ने उन्हें सब का प्यारा बना दिया। एकबार वहाँ हैजा फैल गया और अपनी जान की तनिक भी परवाह किये बगैर उन्होंने असहाय और जरूरत मंदों की सेवा की। इसलिए वे अमीर और गरीब दोनों के प्रियपात्र हो गये जो उन्हें विपत्ति की घड़ी में एक सहज और उपयुक्त मित्र के रूप में पाते थे।

अमूल्य को लोग 'साधुजी' के नाम से पुकारने लगे जो उस समय ब्रह्मचारियों की तरह श्वेत वस्त्र धारण करते थे। पर बाद में वे गेरुआ पहनने लगे। उस समय कुछ लोग उन्हें गुरुजी कहकर पुकारते थे। उनके अधिकांश भक्तों को गाँजा, चरस एवं भांग की लत लगी हुई थी। भक्तलोग उन्हें इन वस्तुओं को चढ़ावा के रूप में देते और वे जब एक या दो कश लगा लेते तब भक्तगण उसे प्रसाद के रूप में ग्रहण करते थे। क्रमशः वे पीने भी लगे और चरित्रहीन औरतें भी उनके पास आने लगीं। कुछ दिनों बाद उन्होंने सारा वस्त्र उतार दिया और नागा साधुओं की तरह रहने लगे। जब मैंने उन्हें अंतिम बार देखा तब वे पूर्णतः गिर चुके थे। अमूल्य की यह दुःखद कहानी सुनकर स्वामीजी कुछ देर तक मौन रहे, फिर बोल उठे, 'अहा ! महान् आत्मा– एक महान् आत्मा।" उन्होंने और भी कहा, "उसके लिए यह जीवन तो बेकार हो गया परन्तु वह अगले जन्म में मुक्त हो जायगा।"

"अमूल्य कॉलेज में मेरा सहपाठी था। वह एक अच्छा लड़का था। उसका दृष्टिकोण विशाल था और वह ज्ञानमार्ग का अनुयायी था।"

"उसके कोई आध्यात्मिक गुरु नहीं थे। जब शिष्य कुमार्गगामी हो जाता है और अपने लक्ष्य से गिरने लगता है, उस समय गुरु ही उसकी रक्षा करते हैं और शिष्य अपना संतुलन फिर ठीक कर लेता है।"

मैंने देखा कि स्वामीजी प्रत्यक्ष रूप से दयार्द्र हो चुके हैं। उस समय अत्यंत सहानुभूति पूर्ण थे। यद्यपि मैं उन्हें एक कठोर नैतिकता वादी के रूप में जानता था, तथापि पतितों के लिए उनके प्रेम ने मुझे उनके स्वभाव के संबंध एक विस्मय उत्पन्न कर दिया। उनका स्वभाव बाहर से कठोर था; किन्तु भीतर से अत्यंत कोमल। तब उन्होंने मुझे संबोधित करते हुए कहा, "मन्मथ। इस बार जब तुम इलाहाबाद जाओगे तो अमूल्य के पास जाना और उसको कहना कि मैंने तुम्हें भेजा है और वह क्या चाहता है, पूछ लेना। वह जो कुछ भी माँगे, उसकी पूर्ति जरूर करना।"

तदनुसार, मैं कुछ दिनों बाद गुरुजी के पास गया और कहा, "महाराज, स्वामीजी ने मुझे आपके पास भेजा है, अन्यथा मैं आपके पास हरगिज नहीं आता। कृपया बताइये कि आपको किन चीजों की जरूरत है ? उन्होंने मेरी कटूक्ति पर विशेष ध्यान नहीं दिया। उनका मुखमंडल उद्दीप्त हो उठा और वे भावुक होकर बोले, "क्या स्वामीजी ने तुम्हें भेजा है—स्वामीजी ने ? उन्होंने मेरे बारे में क्या कहा ?" मैंने सारी बातें बता दीं जो मैंने स्वामीजी से सुनी थीं।

कुछ देर तक वे भाव विह्वल होकर मौन रहे। भावना के प्रवाह को दबाने की चेष्टा की। फिर बोले, "मेरे लिए गाय का चार सेर घी तथा कुछ फल ले आओ। कुछ दिन बाद मैंने ये सारी वस्तुएँ लाकर उन्हें दीं और उन्होंने संतोष प्रकट किया। यह मेरी उनसे अंतिम मुलाकात थी। कुछ ही सप्ताह बाद उनका देहान्त हो गया ! अधिक संभव है कि उन्होंने निराहार रहते हुए अपना शरीर छोड़ा। वे राजयोगी और अघोरी के एक विचित्र संगम स्वरूप थे। शायद मेरी अंतिम मुलाकात के बाद उन्होंने कुछ भी ग्रहण नहीं किया सिवा उस तुच्छ भेंट के जिसे मैंने स्वामीजी के नाम पर उन्हें प्रदान की थी।

क्रमशः

■

गतांक से आगे

स्वामी अद्भुतानन्द (लाटू महाराज) की जीवन-कथा

—श्री चन्द्रशेखर चट्टोपाध्याय
अनुवादक—स्वामी विदेहात्मानन्द
रामकृष्ण मठ, नागपुर

६. दक्षिणेश्वर में

[दक्षिणेश्वर में लालटू का रात्रियापन, श्री केदारनाथ चट्टोपाध्याय का विवरण, तीन रात दक्षिणेश्वर में निवास तथा ठाकुर की सेवा, रामबाबू का पत्नी के साथ दक्षिणेश्वर आगमन तथा लालटू को अपने साथ कलकत्ता ले जाना, कलकत्ता आकर लालटू का घर के काम आदि करना, भक्तमण्डली के उत्सवों आदि में लालटू का उत्साह, नरेनबाबू को बुला लाने का विवरण, ठाकुर के सेवक तथा भानजे हृदय मुखोपाध्याय का मन्दिर त्यागना, योग्य सेवक के अभाव में ठाकुर को तकलीफ, रामबाबू से लालटू को माँग लेना तथा लालटू का दक्षिणेश्वर में स्थायी निवास।]

कामारपुकुर से लौटने के पश्चात् कई दिनों तक ठाकुर अत्यन्त व्यस्त थे, वे प्रायः प्रतिदिन ही कलकत्ता जाते और काफी रात गये वापस दक्षिणेश्वर को लौटते। कभी-कभी वे कलकत्ते में रामबाबू के घर आ पहुँचते तथा वहाँ से अन्य भक्तों के घर जाया करते। उस समय लालटू प्रायः ही उनके साथ भक्तों के घर जाया करता। तदुपरान्त जब वे दक्षिणेश्वर के ही यदु मल्लिक के उद्यान में भागवत की कथा सुन रहे थे, उसी कार्तिक मास के एक दिन अपराह्न में लालटू मालिक द्वारा प्रेषित फल व मिष्टान्न आदि के साथ वहाँ आया था। उसी दिन ठाकुर ने उसे स्नेहपूर्वक कहा था—"अरे! आज रात को फिर कलकत्ता जाओगे! आज यहीं ठहर जा न।" परमहंसदेव का ऐसा आदेश पाकर लालटू अत्यन्त आनन्दित हुआ था, क्योंकि काफी दिनों से उसकी यही इच्छा थी। ऐसे अप्रत्याशित ढंग से अपने मन की आशा पूर्ण होते देखकर लालटू ने अपने आपको धन्य माना।

उस दिन रात को प्रसाद पाने के बाद लालटू परमहंसदेव की पदसेवा में लग गया। पदसेवा करते समय लालटू के मन में मानों उन्माद का भाव आ गया था। उस दिन भक्त श्री केदारनाथ चट्टोपाध्याय वहाँ पर उपस्थित थे उनके मुख से सुनी हुई बातें नीचे लिपिबद्ध कर रहा हूँ—

परमहंसदेव ने लालटू को कहा—क्यों रे, नींद आ रही है क्या?"

लालटू—नहीं, नींद नहीं आयी।

ठाकुर—भय लग रहा है?

लालटू—नहीं, भय नहीं लगता।

ठाकुर—मन कैसा-कैसा कर रहा है?

लालटू—नहीं, मन कैसा-कैसा नहीं करता।

ठाकुर- तो फिर,तुझे झपकी आ रही है।

लालटू—मुझे झपकी नहीं आ रही है।

ठाकुर- तेरी आँखें ऐसी क्यों हुई हैं रे?

लालटू—मैं क्या जानूँ?

ठाकुर—क्यों रे! तुझे यह क्या हुआ है? ऐसे टकटकी लगा कर क्यों देख रहा है?

लालटू के मुख से और कोई बात नहीं निकली। थोड़ी देर बाद ही लालटू के नेत्रों से अश्रु झरने लगे। ठाकुर ने पुनः पूछा—"क्यों रे! तू रो क्यों रहा है? तुझे क्या हुआ? ऐसा तो देखा नहीं बापू? क्या हुआ बोल न रे?" फिर केदारबाबू को सम्बोधित कर कहा—'देखो जी, यह लड़का रोये ही जा रहा है, कुछ कहता नहीं।'

केदार बाबू— यह तो आपकी ही लीला है। आपने ही तो इस लड़के में शक्तिसंचार किया है, इसीलिए तो ऐसा भाव जम गया है।

इसी दिन लालटू की दीक्षा होने की बात केदारबाबू ने कई लोगों को बतायी थी।

देवमानव की दीक्षा प्रणाली समझने की क्षमता हममें नहीं है। वे किसे किस प्रकार दीक्षा देते है, यह वे ही जानते हैं जो उनसे दीक्षा पा चुके हैं। अन्य लोग वह बात नहीं समझ सकते। हम तो सिर्फ इतना ही अनुमान कर सकते हैं कि उस दिन उनके स्पर्श के फलस्वरूप लालटू आनन्द से आत्मविभोर हो उठा था तथा निर्वाक्, स्तब्ध व स्थिरदृष्टि हो उठा था।

परवर्ती काल में हमने लाटू महाराज के समक्ष यह प्रश्न उठाया था, परन्तु दीक्षा के बारे में उन्होंने कुछ भी नहीं बताया; उन्होंने कहा था—"ठाकुर मेरे मन की हालत समझते थे। वे मुझसे तरह-तरह से सब करा लिया करते थे। मेरे ऊपर स्नेह ढाल दिया करते। उन्होंने ही तो मुझे दिखाया।"

एक भक्त—क्या दिखाया महाराज?

लाटू महाराज— अरे! वह भी क्या मुख से कहने की बात है? ये सब अनुभूति की चीजें हैं; स्वयं ही इसे न समझने, न देखने, न पाने पर कोई इसे कहकर नहीं समझा सकता। भगवान क्या वाणी की चीज हैं। वे अवाङ्मनसगोचर हैं, वे वाणी के अतीत हैं, मन के अतीत हैं, उन्हें समझने का एकमात्र पथ है—अनुभूति।

एक भक्त—वह अनुभूति कैसी होती है। हमें बताइये न महाराज!

लाटू महाराज—"अरे! उनके बारे में इतना पढ़ते हो, इतना सुनते हो, तो भी तुम लोगों को होश नहीं होता। वे कहा करते थे—जैसे मिठास कहकर नहीं समझायी जा सकती, ईश्वरतत्त्व भी ठीक वैसा ही है; इसे भी कहकर नहीं समझाया जा सकता।" फिर उन्होंने हँसते हुए कहा था—"पर सुनकर करोगे क्या? उनका दर्शन करो न! उनके दर्शन के लिए लग जाओ न! वे अवश्य दर्शन देंगे।"

इस प्रकार वे हमारा प्रश्न टाल गये थे।

अस्तु, लालटू की स्थिर पलकें अगले दिन सुबह भी चंचल न हुई थीं। दोपहर तक लालटू अचंचल, अपलक दृष्टि में स्थिर रहा। मन्दिर में भोग की घन्टी बज उठी, ठाकुर परमहंसदेव ने आकर बालक को पुकारा—"क्यों रे! दोपहर हो गयी, माँ को देखेगा नहीं, अब मन्दिर बन्द होने वाला है। जा—माँ का दर्शन कर आ। यहाँ पर आया है, तो माँ के मन्दिर में प्रणाम कर आ।" इस प्रकार स्नेह पूर्वक पुकारने से बालक के भाव की सघनता कम हुई। बालक मानो नींद से तुरन्त उठे हुए के समान धीरे-धीरे चलकर मन्दिर के द्वार पर उपस्थित हुआ और माँ को प्रणाम करने के पश्चात् शौचस्नानादि नित्यक्रिया को चला गया। ये सब बातें हमें राम लाल दादा ने बतायी थीं।

इसके बाद कोई विशेष घटना नहीं हुई। लालटू उस बार लगातार तीन दिन तीन रात दक्षिणेश्वर में रह गया। इन तीन दिनों में ठाकुर ने उसे बैठा न रहने दिया—उससे तरह-तरह के छोटे-मोटे कार्य कराते रहे। उन कई दिनों तक लालटू को ठाकुर के स्नान के लिए पानी भरकर लाना पड़ा था, तम्बाकू सजाना पड़ा था, घर बुहारना पड़ा था, यहाँ तक कि ठाकुर के साथ यदु मल्लिक के उद्यान में जाकर पाठ सुन आना पड़ा था।

तीन दिनों बाद ठाकुर ने लालटू को मालिक के घर लौट जाने को कहा—"अरे ! राम तो तेरी चिन्ता करते-करते परेशान हो गया होगा।"

इस पर लालटू ने उत्तर दिया था—"मेरे यहाँ रहने पर मालिक बिल्कुल भी नाराज नहीं होते। वह सब काम करने के लिए उन्होंने और भी एक आदमी रख लिया है। मैं यहीं रहूँगा।"

"वह क्या रे? तू राम का वेतन लेकर यहाँ बैठा रहेगा ? ऐसा तो नहीं होता बापू ! जिससे वेतन लेते हैं, उसका कार्य करते हैं—मैं तो यही जानता हूँ। एक व्यक्ति से वेतन लेना और दूसरे का कार्य करना—ऐसा तो कहीं भी सुनने में नहीं आया।"

यही सब बातें चल रही थीं कि भक्त रामबाबू अपनी पत्नी के संग दक्षिणेश्वर आ पहुँचे। राम को देखकर ठाकुर हँसते हुए कहने लगे—"अजी राम ! देखो तो भाई, यह लड़का कैसा है ! जितना ही कहता हूँ कि घर जा, लोग कितने चिन्तित होंगे, पर लड़का सिर्फ ही-ही कर हँस रहा है और कहता है—यहाँ रहने से तो मालिक नाराज नहीं होते। यहाँ से जाने को मन नहीं करता ! मैं न जाऊँगा। मैं कितना ही कहता हूँ कि कलकत्ते जा, पर वह कैसे भी यहाँ से हिलता नहीं ! यह क्या बापू ! कामकाज छोड़कर यहाँ इतना क्यों पड़े रहते हो ? हो सके तो तुम उसे समझाओ न।"

ठाकुर की बात सुनकर भक्त रामचन्द्र सारा माजरा समझ गये। इस विषय में निश्चिन्त होकर कि बालक पर ठाकुर की कृपा हो चुकी है, रामबाबू दिखावटी क्रोध के साथ लालटू को समझाने लगे—"क्यों रे ! यहाँ क्यों पड़ा है, बोल तो ? घर न जायेगा ?"

लालटू मौन खड़ा रहा और उत्तर में कुछ भी न कहा।

तदुपरान्त रामबाबू ने ठाकुर से अनुरोध करते हुए कहा—आपने ही तो स्नेह के द्वारा लड़के का सिर फिरा दिया, अब मुझको क्यों इस झंझट में फँसाते हैं ?"

ठाकुर मन्द हास्य के साथ बोले—"बोलो तो राम, यह छोकरा कौन-सा मधु पा गया है कि यहीं रहना चाहता है ! मेरी तो समझ में कुछ भी नहीं आता।"

भगवान् भक्त से यह जानना चाहते हैं कि भक्त किस वजह से उन्हें छोड़कर नहीं रह सकता। अब इस रहस्य का समाधान करे तो कौन करे ?

अस्तु, उस बार लालटू माँ (रामबाबू की धर्मपत्नी) के साथ सिमला को लौट आया। लालटू को लौटा कर रामबाबू की पत्नी ने उसे कितना ही समझाया परन्तु लालटू की तो बस एक ही टेक— "मैं अब और नौकरी न करूँगा। मैं अब आप आपलोगों से वेतन न लूँगा। बाबू से कह दीजिए कि मैं वहाँ रहूँगा"

माँ जितना ही समझातीं—"क्यों रे ! तुझे यहाँ रहने में क्या कष्ट है ?" लालटू उतनी ही जिद करते हुए कहता—"वहाँ रहना मुझे अच्छा लगता है।"

माँ ने कहा—"वहाँ तुझे खिलायेगा कौन ? तुझे कपड़े-लत्ते कौन देगा ?"

लालटू—क्यों, मैं उनकी सेवा करूँगा, प्रसाद पाऊँगा और आपलोग मुझे कपड़े-लत्ते देंगे।

माँ—बाबू इसे देने के लिये कैसे राजी होंगे ?

लालटू—वे मुझसे इतना स्नेह करते हैं, तो क्या वे मुझे एक कपड़ा भी न देंगे ?

बालक की बालबुद्धि पर माँ को हँसी आ गयी।

रामबाबू ने दक्षिणेश्वर की पूरी घटना केदारबाबू के मुख से सुनी थी। इसीलिए अपने गुरुदेव से शक्ति प्राप्त लालटू के द्वारा घर के कामकाज कराने में उन्हें द्विधा होने लगी थी, जिसके फलस्वरूप लालटू का कार्यभार काफी घट गया था।

उन दिनों लालटू को प्रायः ही मालिक के द्वारा प्रेषित फल मिष्टान्न आदि लेकर दक्षिणेश्वर जाना पड़ता था और कलकत्ते की रामकृष्ण भक्तमण्डली का समाचार आदि लाना तथा परमहंसदेव के कलकत्ते आने का संवाद उन तक पहुँचाने के अतिरिक्त उसके जिम्मे और कोई भी कार्य न था। इसके अतिरिक्त ठाकुर के आगमन के उपलक्ष्य में प्रायः प्रत्येक भक्त कुछ न कुछ उत्सव किया करते थे। उन सब उत्सवों में जो लोग भक्तपालक रामबाबू का परामर्श लिया करते, रामबाबू उनकी सहायता करने के निमित्त अपने प्रिय भृत्य को भेज दिया करते थे।

प्रत्येक उत्सव में वह अकेला ही दस लोगों के बराबर कार्य किया करता था। इस सम्बन्ध में महेन्द्रबाबू ने कहा था—

"रामबाबू के मकान पर श्रीरामकृष्णदेव का आगमन हुआ है। हमलोगों के घर आकर लालटू ने कहा, 'उन्होंने लोरेनबाबू को बुलाया है।' यह कहकर वह वायु वेग से चला गया। दो-तीन मिनट बाद ही वह पुनः आकर बोला—'वे बुला रहे हैं, आपलोग इतनी देरी क्यों कर रहे हैं?' इस पर भैय्या बाहर आकर कहते—'जाता हूँ रे, जाता हूँ।'

'मुझे अभी कितनी जगह जाना है—आप जल्दी-जल्दी चले आइए। नहीं तो देरी होने पर वे मेरे ऊपर नाराज होंगे।' यह कहकर वह पुनः चला गया। चार-पाँच मिनट बाद ही वह फिर आकर बोला—'कहाँ हैं लोरेन बाबू! आप इतनी देरी कर रहे हैं।' भैय्या ने फिर कहा- "जाता हूँ रे, तूँ तो जरा सा इन्तजार भी नहीं कर सकता। बुला लाने को कहने पर बाँधकर ले जाना चाहता है।' 'अरे! चलिए, वे आपके लिए बैठे हुए हैं।' इसी प्रकार लाटू भैय्या को रामबाबू के बैठके में बुलाकर ले जाया करता था।...भैय्या को समाचार देने के बीच में लाटू और भी दो लोगों को बुलाने गया था। वे लोग इस बीच तैयार हो चुके थे। हमलोग भी उनके साथ ही रामबाबू के बैठके में जा पहुँचे।"

इस प्रकार और भी कुछ दिनों तक लालटू को रामबाबू के घर में रह जाना पड़ा था। तदुपरान्त उसके दक्षिणेश्वर में निवास करने का सौभाग्य हुआ था। वह सुयोग जिस प्रकार उपस्थित हुआ था, उसी का हम वर्णन करने जा रहे है :

१८८१ ई० के जून में कुमारी-पूजा के प्रसंग में, मन्दिर के मालिकों का श्रीरामकृष्णदेव के सेवक व भानजे श्रीयुत हृदय मुखोपाध्याय के साथ मनोमालिन्य हुआ। ठाकुर के भानजे ने बिना किसी की सलाह लिये ही मथुर बाबू की पौत्री के पाँव में पुष्पचन्दन अर्पित कर पूजा की थी। मथुरबाबू के पुत्र त्रैलोक्य बाबू कन्या के अमंगल की आशंका से अत्यन्त चिन्तित हो उठे और नाराज होकर इसी कारणवश हृदय को मन्दिर के कार्य से छुड़ा दिया। उस समय ठाकुर के भानजे हृदय ही उनके सेवक थे। उन्हें मन्दिर में प्रवेश करने की अनुमति न मिलने के कारण वे परमहंसदेव की सेवा से वंचित हो गये थे। यद्यपि श्रीरामकृष्णदेव के सेवक का अभाव दूर करने के निमित्त त्रैलोक्य बाबू ने उसी दिन एक पाश्चिम भारतीय नौकर की नियुक्ति की थी, तथापि उसके द्वारा ठाकुर की सेवा न हो सकी थी। क्योंकि उन दिनों ठाकुर सिर्फ शुद्धसत्त्व लोगों का स्पर्श ही सहन कर पाते थे; अशुद्ध असात्त्विक लोगों की सेवा या स्पर्श से उन्हें असह्य कष्ट हुआ करता था।

इसीलिए हृदय मुखोपाध्याय के चले जाने पर परमहंसदेव की सेवा में त्रुटि होती देखकर भक्त रामबाबू ने शुद्धसात्त्विक लालटू को ठाकुर के पास भेज दिया था।

दो दिनों बाद रामबाबू स्वयं भी दक्षिणेश्वर को आये। रामबाबू को देखकर ठाकुर बोले—"सुनो राम! इस लड़के (लालटू की ओर संकेत कर) को तुम मेरे

पास रख दो। यह लड़का बड़ा ही शुद्धसत्त्व है और यहाँ रहना पसन्द भी करता है।" उन्होंने बिना कुछ भी कहे लालटू को वहीं रख दिया।

अब से लालटू दक्षिणेश्वर में परमहंसदेव के सेवक के रूप में परिगणित हुआ था। ठाकुर स्नेहपूर्वक उसे लेटो, नेटो, लाटू नामों से पुकारा करते थे। उन नामों में से यह 'लाटू' नाम ही चल निकला है। अब हम भी इस 'लाटू' नाम का ही प्रयोग करेंगे।

(क्रमशः)

पृष्ठ १७ का शेष

ध्यान को गौण रुचि का विषय माननेवाले लोगों की बात यदि छोड़ दें, तो अन्य लोगों के लिए यह कहा जा सकता है कि ध्यान को समग्र जीवन से अलग करके नहीं किया जा सकता। अर्थात् हम ध्यान भी करें, और जैसा चाहें, मनमाना, जीवन यापन करें, यह नहीं हो सकता। सांसारिक चिन्तन को धीरे-धीरे कम करना, संसार से अनासक्ति एवं चित्तशुद्धि ध्यान में सिद्धिलाभ के लिए परमावश्यक है।

विवेक शिखा का
रामकृष्ण संघ शताब्दी अंक

भगवान् श्री रामकृष्ण ने आज से सौ वर्ष पूर्व सन् १८८६ ई. के अगस्त महीने में अपना लीला—संवरण किया था। आज से सौ वर्ष पूर्व ही रामकृष्ण संघ और रामकृष्ण मठ की भी स्थापना हुई थी। तीन-तीन पुण्य ऐतिहासिक घटनाओं की शतवार्षिकी के अवसर पर विवेक शिखा का आगामी अगस्त महीने का अंक "रामकृष्ण संघ शताब्दी अंक" के रूप में प्रकाशित होगा।

इस अंक में रामकृष्ण संघ के महाध्यक्ष स्वामी गंभीरानन्द जी महाराज, स्वामी बुधानन्द, स्वामी लोकेश्वरानन्द, स्वामी हर्षानन्द, स्वामी ब्रह्मेशानन्द, स्वामी सोमेश्वरानन्द, स्वामी निखिलेश्वरानन्द आदि जैसे रामकृष्ण संघ के विशिष्ट एवं मनीषी साधुओं के चिन्तनपूर्ण, विचारोत्तेजक एवं प्रामाणिक लेख रहेंगे।

श्रीरामकृष्ण के भक्तों एवं जिज्ञासु पाठकों से अनुरोध है कि वे अपनी प्रति अभी से सुरक्षित करा लें। इस विशेषांक का मूल्य होगा ५/-। रजिस्टर्ड डाक से मँगाने पर ७/ सात रुपये अग्रिम रुपये मनीआर्डर द्वारा भेजें।

लिखें :

संपादक, विवेक शिखा,
रामकृष्ण निलयम,
जयप्रकाशनगर
छपरा-८४१ ३०१
बिहार

कुछ तो करो ऐसा !

—डॉ० केदारनाथ लाभ

माटी पर फूल उगे, कुछ तो करो ऐसा !
शब्द को अर्थ मिले, कुछ तो करो ऐसा !

सूर्य ज्यों डूबा है, रात गहरायी है
दीप जल उठे कोई, कुछ तो करो ऐसा !

आग के समन्दर में, कागज की नाव सरिस
और तुम नहीं तैरो, कुछ तो करो ऐसा !

चेतना-सागर में, ज्योति का ज्वार उठे
और तुम रहो तन्मय, कुछ तो करो ऐसा !

बाँसुरी रहे बजती, मन के वृन्दावन में
नाचती रहे राधा, कुछ तो करो ऐसा !

चाँद-सूरज जगमग, करें नित अनाहत में
और मधु रहे झड़ता, कुछ तो करो ऐसा !

तन के देवालय में, चिदानन्द-शिव उतरें
आत्मसंस्थ बने रहो, कुछ तो करो ऐसा !

देवता तुम्हारे कब तलक रहेंगे सोये
शंखध्वनि गूँज उठे, कुछ तो करो ऐसा !

आत्मरूप से कब तक रहोगे अपरिचित तुम
निज को पहचान सको, कुछ तो करो ऐसा !

*

दो बोध कथाएँ

राम, तेरा सहारा

प्रस्तुति :—
स्वामी शिवसेवानन्द
रामकृष्ण मिशन आश्रम,
पटना।

समुद्र तट पर लीलामय—मर्यादापुरुषोत्तम श्री राम खड़े हैं। परम भक्त हनुमान के नेतृत्व में वानर-सेना समुद्र पर सेतु बनाने का कार्य कर रही है। वानरगण बड़े-बड़े शिलाखंड उठाकर हनुमान जी के पास ले आ रहे हैं। भक्तराज उन पर राम-राम लिख रहे हैं। राम लिखने पर बड़े-बड़े शिलाखंड भी समुद्र के वक्ष पर तैर रहे हैं। किन्तु पूर्ण राम लिखने पर समय अधिक लग रहा था। इसलिए भक्तराज हनुमान ने 'राम' शब्द को तोड़कर लिखना प्रारंभ किया—, अर्थात् एक पत्थर पर 'रा' एवं, दूसरे पर 'म'। तिस पर भी शिलाखंड समुद्र पर तैर रहे थे।

मर्यादा पुरुषोत्तम राम खड़े-खड़े यह सब देख रहे थे—वे लीलामय अपनी ही लीला पर मन मन ही हँस रहे थे।

बीच-बीच में भक्तराज हनुमान भी अपने इष्ट को कनखियों से देख लेते थे—और फिर नये उत्साह से प्रभु-स्मरण कर अपने काम में लग जाते।

तभी लीलामय को लीला करने की सूझी। श्रीराम ने देखा—हनुमान जी शिला खण्डों पर उनका नाम लिख कर समुद्र पर फेंक रहे हैं, और पत्थर तैर रहे हैं। और भी आश्चर्य! आधा नाम— कहीं 'रा' तो कहीं केवल 'म'। एवं शिलाखण्ड तैर रहे हैं।

श्रीराम ने सोचा "राम नाम लिख कर पत्थर फेंकने पर भी—इतने भारी होने पर भी पत्थर तैर रहे हैं। जब मेरा नाम लिखा होने पर पत्थर तैर रहे हैं, तो यदि मैं स्वयं पत्थर फेंकूँ तो अवश्य ही तैरेगें"—ऐसा सोचकर लीलामय राम ने पास ही पड़ा एक छोटा सा कंकड़ उठा लिया—और उसको समुद्र की तरफ फेंका। कंकड़ समुद्र में जाकर गिरा। एक धीमी ध्वनि हुई। समुद्र में गोलाकार तंरगे उठीं—तथा कंकड़ समुद्र गर्भ में समा गया। कंकड़ तैरा नहीं—डूब गया।

भक्तराज हनुमान ने प्रभु की यह लीला देख ली थी।

राम इस छोटी घटना पर आश्चर्य से भर गये। उन्होंने हनुमान को पुकारा और कहा—"भक्तराज! यह क्या? तुम मेरा नाम लिख-लिख कर भारी शिलाखण्ड समुद्र पर फेंक रहे हो और वे समुद्र पर तैर रहे हैं। किन्तु आश्चर्य! मैंने जब एक छोटा कंकड़ स्वयं समुद्र पर फेंका तो वह डूब गया—यह कैसे हुआ?'

भक्तराज हनुमान—जो प्रभु की लीला समझ गये थे—मन ही मन मुस्कराये एवं अत्यन्त प्रेमाभक्ति से भरकर विनयपूर्वक हाथ जोड़कर बोले—

"प्रभु, जिसको आपने पकड़ रखा है—वह तैर रहा है, किन्तु जिसको आप स्वयं ही छोड़ दें—उसकी तो यही गति होगी। वह तो डूबेगा ही, वह तैरेगा कैसे?"

इसीलिए तो प्रभु, मैंने स्वयं को आपके हाथों सौंप दिया है। आपको पकड़ा नहीं।

*

मन का भूत

एक नगर था—प्रेम व आनंद से परिपूर्ण। राजा था न्याय प्रिय। नगर में प्रत्येक रविवार को एक मेला होता था। बहुत दूर-दूर से दूकानदार अपनी दुकानें लेकर आते और संध्या तक सब सामान बिक्री कर लौट जाते। किसी का सामान बचता नहीं था, फिर भी राजा ने मुनादी करा रखी थी, यदि किसी के सामान की बिक्री न हो—तो वह जाने के पहले दरबार में आकर अपना माल दे जाये और दाम ले जाये।

एक दिन एक घटना घटी। एक आदमी सिर पर एक बड़ी टोकरी लेकर आया। वह शाम तक बैठा रहा परन्तु उसका माल किसी ने नहीं खरीदा। बेचारा संध्या समय निराश होकर वापस जा रहा था। तभी किसी ने कहा—"भाई, निराश मत होओ, जो भी सामान है, राजा के पास ले जाओ, राजा खरीद लेगा"।

और वह सिर पर बड़ी टोकरी उठाकर राजा के पास पहुँच गया, तथा राजा से अपना माल न बिकने की बात कही। राजा ने बिना जाने कि क्या वस्तु है, उससे दाम पूछा। माल वाले ने कहा—

"महाराज १०० रुपये',

राजा ने १०० रुपये देकर माल ले लिया। और पूछा "भाई, क्या रखा है इसके अन्दर ?"

माल वाले ने उत्तर दिया—"महाराज एक भूत है।" "भूत—" राजा ने आश्चर्य से कहा।

तभी माल वाले ने टोकरी का ढक्कन खोल दिया—टोकरी से एक विशालकाय भूत निकला तथा राजा के सामने प्रकट होकर उसने कहा—"महाराज, काम दें जल्दी, नहीं तो गर्दन तोड़ दूँगा। राजा घबड़ा गया—

कैसा काम ?—राजा ने पूछा

जो भी हो जितना भी हो—भूत ने उत्तर दिया।

राजा ने कहा—जाओ, और पूरे महल की सफाई कर दो।

भूत थोड़े ही समय में फिर प्रकट हो गया और बोला—राजा महल की सफाई हो गयी है। और काम दें। राजा ने कहा—जाओ, और मेरे सब खेतों में पानी दे आओ।

जो भी हो, राजा जो भी काम देता, भूत तत्काल उसे समाप्त कर देता तथा और काम माँगता तथा काम न देने पर गर्दन तोड़ने की धमकी देता।

इस घटना से राजा अत्यन्त घबड़ा गया। उसका उठना-बैठना, सोना, खाना-पीना सब समाप्त हो गया। राजा दुश्चिन्ता में पड़ गया तथा सूख कर काँटा हो गया। राज्य के सारे काम चौपट हो गये।

तभी राजा को अपने गुरु की याद आयी। वह भागा-भागा अपने गुरु के पास गया और रोकर गुरु के पैरों पर गिर पड़ा। इसी बीच भूत भी आकर काम ले जाता रहा।

राजा ने कातर स्वर से गुरु को सारी घटनाएँ कह सुनायीं तथा भूत से बचने का उपाय जानना चाहा।

गुरु हँसे और बोले "अरे, राजन् यह कोई बड़ी बात नहीं है। जाओ और अपने महल के प्रांगण में एक बड़ा खंभा गाड़ दो तथा भूत से कहो कि वह इस खंभे पर चढ़ता और उतरता रहे—बस इसी उपाय द्वारा भूत से तुम्हारी रक्षा हो जायेगी—।" अस्तु।

राजा ने ऐसा ही किया। उसने अपने महल के आंगन में एक बड़ा खंभा गड़वा दिया। तब जैसे ही भूत ने आकर काम मांगा राजा ने कहा—

"भूतराज, इस खंभे पर चढ़ो और उतरो, चढ़ो और उतरो—"और भूत ने यह प्रक्रिया प्रारंभ कर दी। उस रात राजा पहली पर आराम से सोया।

कुछ दिनों बाद राजा ने देखा कि भूत खंभे के नीचे मरा पड़ा है। राजा के आनन्द का अन्त न था।

यह भूत ही मन है, जो व्यक्ति को जीवन भर विश्राम नहीं लेने देता, और खंभा है—राम नाम का संबल। जब मन रूपी भूत को राम नाम के खंभे पर चढ़ा देते हैं, तब मन सब समय राम नाम करता करता राम को ही समर्पित हो जाता है। उसे राम के श्री चरणों में परम शांति प्राप्त हो जाती है। ●

Give up jealousy and conceit. Learn to work unitedly for others. This is the great need of our country.

—Swami Vivekananda

With Best Compliments From :

HINDUSTAN MOTORS LIMITED

MANUFACTURERS OF :

Contessa and Ambassador Cars, Hindustan Driveaway Chassis

Hindustan Normal Control & Full Forward Control Trucks

Passenger Coach, Mini Bus, Trekker and Porter

Excavators, Electric Overhead Travelling Crane. Upto 400

Tonnes Capacity, Dumpers, Front End Loaders,

Crawler Tractors, Scrapers

★

Registered Office at

9/1 R. N. MUKHERJEE ROAD, CALCUTTA-700 001

Factories at

HINDMOTOR (West Bengal) TRIVELLORE (Tamil Nadu)